

**TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182108

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—901—26-3-70—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H/294.5/R16G** Accession No. **H.1019**

Author

Title

शिवेन्द्रसिंह ओझा
गोस्वामी लक्ष्मीनारायण

This book should be returned on or before the date last marked below

आलोचना व निबन्ध

गोस्वामी तुलसीदास

की

समन्वय साधना

द्वितीय भाग

लेखक

बयोहार राजेन्द्रसिंह



प्रकाशक

काशी नागरी-प्रचारिणी सभा

काशी

मुद्रक—दी इलाहाबाद ब्लॉक वर्क्स लि०, इलाहाबाद ।

भूमिका

मैंने बयोहार राजेंद्रसिंह जी के 'तुलसीदास की समन्वय-साधना' के द्वितीय खंड के पृष्ठ देखे—बहुत अच्छा ग्रंथ बन गया है, रोचक, सद्भाव-वर्धक, सद्-बुद्धिवर्धक, और सत्क्रिया-वर्धक भी रावण और राक्षसों के चरित्र को जो अपने समय के मुसलमानों के, हिंदुओं पर अत्याचारों पर घटाया है, वह बहुत सुंदर बना है, यद्यपि तुलसीदास के समकालीन अकबर के समय में यह अत्याचार बहुत कम हो गया था, और रामजी के स्थानीय शिवाजी का अवतार उनके बहुत पीछे औरंगजेब के समय में हुआ—दर्शनों का; विविध ज्ञान, भक्ति, कर्म मार्गों का, इष्ट देवताओं का समन्वय दिखाने के लिये तुलसीदास के ग्रंथों से बहुत से पदों का भी उद्धरण किया है—कहीं-कहीं वेद की ऋचाओं का और कबीर आदि संतों के पदों का भी—जिससे जान पड़ता है कि लेखक ने अनेक ग्रंथों का परिशीलन किया है।

भगवान्दास



अनुक्रमणिका

भूमिका डा० भगवान्दास

नं०		पृष्ठ
१.	गोस्वामी तुलसीदास का समय और कार्य ...	१
२.	तुलसीदास का धर्म-सुधार कार्य ...	२४
३.	तुलसीदास का साध्य-समन्वय ...	४६
४.	वैदिक धर्म और तुलसीदास ...	६३
५.	निर्गुण-सगुण-समन्वय ...	६८
६.	द्वैताद्वैत-समन्वय ...	९१
७.	दर्शन-समन्वय ...	१०७
८.	सर्वदेव-समन्वय ...	१२१
९.	मार्ग-समन्वय ...	१४०
१०.	तुलसीदास की उपासना, उपास्य और उपासक ...	१५६
११.	साधन-समन्वय-बाह्य साधन ...	१७६
१२.	साधन-समन्वय (आंतरिक साधन) ...	१८३
१३.	वृत्ति-समन्वय ...	२०८
१४.	उपास्य-गुण-समन्वय ...	२१५
१५.	उपासक-गुण-समन्वय ...	२२६



गोस्वामी तुलसीदास का समय और कार्य धर्म की व्याख्या

महाभारत में धर्म शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गयी है:—

धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मेण विधृता प्रजाः ।

यत्स्याद्धारणसंयुक्तस्स धर्म इति निश्चयः ॥

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम् ।

यत्स्यात्प्रभव संयुक्तस्स धर्म इति निश्चयः ॥

(शान्तिपर्व)

अर्थात् जिससे समाज, प्रजा या सब प्राणियों की धारणा तथा उन्नति हो वही धर्म है। धर्म की इस व्याख्या में समाज-हितकारी सभी बातों का सामावेश हो जाता है। धर्म का अर्थ केवल Religion या मजहब नहीं किन्तु उसमें लौकिक, पारलौकिक स्वर्थ-परमार्थ सभी कुछ आ जाता है। यही कारण है कि धर्म में सामाजिक, राजनीतिक वैयक्तिक तथा पारिवारिक सभी धर्मों का

समावेश कर दिया गया है। मनुष्य-समाज सब प्रकार से पूर्ण, सम्पन्न, उन्नत और सुखी हो यही धर्म का उद्देश्य माना गया है। “धर्म” के द्वारा उसकी सर्वांगीण उन्नति ही अभीष्ट है। धर्म वह मर्यादा का बंधन है जिसके भीतर होकर समाज की धारा बहती है। समाज को सुचारु रूप से संचालित करने के लिये इस धर्म बंधन या मर्यादा की आवश्यकता है।

मर्यादा का सिद्धान्त सनातन है। जिन विशेष नियमों के द्वारा यह मर्यादा स्थिर रहती है वे भी सत्य और अटल हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि जो धर्म के दस लक्षण माने गये हैं, उन्हें हम Fundamental या सनातन सत्य कह सकते हैं जो कि प्रत्येक समाज और काल के लिये अटल, अचल हैं। किन्तु कुछ नियम ऐसे हैं जिनका समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों के कारण, देश काल के अनुसार, परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। इसी आवश्यकता के अनुसार भिन्न-भिन्न समयों के लिये भिन्न-भिन्न स्मृतियाँ रची गयीं हैं। धर्म के सनातन सत्यों को यदि हम (Law) कानून कहें तो इन स्मृतियों को (Rules) नियम कह सकते हैं। Law विश्व भर में सब काल के लिये एक ही रहेगा; किन्तु अलग-अलग समयों में जरूरत के अनुसार नियम बदले जा सकते हैं। इन नियमों को ही धर्म मान लेना उचित नहीं है—वे तो उसके साधन या वाहन हैं। धर्म यदि प्राण है तो ये नियम उसके बाहक या शरीर हैं। उनमें परिवर्तन हो सकता है। बल्कि यों कहिये कि उनके समयानुसार परिवर्तन पर ही धर्म या सनातन सत्यों का प्रयोग निर्भर है। इन बाह्य नियमों में जकड़े रहने या इनमें समयानुसार परिवर्तन न करने से सनातन सत्यों या धर्म की गति रुक जाती है।

हमारे शास्त्रों में “धर्म-ग्लानि” शब्द का प्रयोग अनेकों जगह

आता है—“यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।”

या “जब जब होई धर्म की हानी” इसका क्या तात्पर्य है ? “मर्यादा भंग” के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है । धर्म की हानि किस प्रकार हुई इसका चित्र खींचते हुए गोस्वामी जी ने इसी मर्यादा-भंग का चित्र खींचा है । रावण आदि के अत्याचारों से समाज में अहिंसा आदि सनातन सत्त्यों के पालन न हो सकने के कारण उस मर्यादा का नाश हो गया जिसके कारण समाज सुसंघटित था । वर्णाश्रम-धर्म का नाश हो गया—सब लोग उच्छृंखल होकर अपने-अपने मनमाने रास्ते पर चलने लग गए :—

“वर्ण-विभाग न आश्रम धर्म ।

दुनी दुख दोष दरिद्र दली है ॥”

(कवितावली)

×

×

×

“आश्रम वरण-धर्म विरहित,

जगलोक वेद मर्याद गई है ।

प्रजा पतित पाखंड पापरत,

अपने अपने रंग रई है ॥”

(विनय पत्रिका)

गीता में स्वधर्म पालन पर बहुत जोर दिया गया है । जब सब लोग और वर्ण अपना अपना धर्म-पालन करेंगे तभी समाज में मर्यादा या धर्म स्थिर रह सकता है । समाज को सुचारु रूप से चलाने के ही लिये श्रम-विभाग के अर्थ वर्णों और आश्रमों की व्यवस्था की गयी थी और उन्हें अलग-अलग दायित्व दिये गये थे—उनके कुछ खास कर्त्तव्य निश्चित थे और उनके बदले उन्हें खास खास अधिकार भी दिये गये थे । इन्हीं Rights and responsibilities के समान विभाग पर वर्णाश्रम धर्म निर्भर है । किन्तु यदि एक वर्ग अपना कर्त्तव्य न

पालन कर केवल अधिकारों के लिये लड़ने लगे तो मर्यादा भंग हो जायगी—जहाँ यह अधिकारों और कर्तव्यों का सामञ्जस्य बिगड़ा वहीं समाज की मर्यादा भंग हुई, और उसी को धर्म ग्लानि कहा गया है।

इसी साम्य (Equilibrium) को फिर से स्थापित करने के लिये किसी बड़े शक्तिशाली अवतार या महापुरुष की आवश्यकता होती है जो कि असुरों या अधर्म शक्तियों का नाश कर फिर से पुरानी मर्यादा को स्थापित करे। इसी को गीता में “धर्म स्थापना” कहा गया है। गोस्वामी जी ने राम जन्म का हेतु “धर्म सेतु की स्थापना” माना है।

“धर्म के सेतु जग मंगल के हेतु,

भूमि भार हरिबे को अवतार लियो नर को।

(कवितावाली)

×

×

×

असर मारि थापहि सुरन्ह

पालहि निज स्रुति-सेतु।

जग विस्तारहि विमल जस

राम जनम कर हेतु ॥”

(मानस)

अवतारों को Destructive and constructive (नाशक और विधायक) दोनों कार्य करने पड़ते हैं। जब तक अधर्म की शक्तियों का नाश नहीं होता तब तक धर्म मर्यादा की स्थापना नहीं हो सकती। इसलिये प्रथम कार्य वही है। किन्तु केवल दुष्ट दमन से ही अवतारों का कार्य समाप्त नहीं हो जाता। वह तो साधन मात्र हैं—साध्य तो धर्म स्थापन है। रावण-वध से २। रामावतार की पूर्णता नहीं है; राम राज्य में ही उसकी चरम परिणति है।

“वर्णाश्रम निज निज धरम,
निरत वेद - पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं ,
नहिं भय सोक न रोग ॥”

(मानस)

इतना हो जाने पर रामावतार का कार्य पूर्ण होता है ।
भागवतकार ने भी माना है कि प्रभु का अवतार लोक-संग्रह के
लिये है न कि केवल दुष्ट-दमन के लिये :—

“रक्षो बधायैव न केवलं विभोः
मर्त्यावतारः खलु लोकसंग्रहम् ।”

अवतार और सन्त

धर्मस्थापना तथा दुष्ट दमन तो राम कृष्ण आदि अवतारों
का जीवन-कार्य है, किन्तु उनके सिद्धान्तों का प्रचार करना तथा
उन्हीं के आधार पर अपने समय की आवश्यकताओं के अनुकूल
समाज को सामयिक धर्म का मार्ग बताना व्यास बाल्मीकि तुलसी
और कबीर सरीखे कवियों और संतों का जीवन कार्य है । सना-
तन सत्त्यों के सामने की बाधाओं को दूर कर उनका पुनः स्थापन
करने में अवतारों का कार्य समाप्त हो जाता है, किन्तु उनको
समयानुकूल रूप देना, उन सत्त्यों को प्राचीन जर्जर नियमों के
कलेवर से निकाल कर अपने समय की परिस्थितियों के अनुकूल
नवीन कलेवर पहनाना सन्तों का कार्य है । जहाँ अवतारों का
कार्य समाप्त होता है वहीं सन्तों का कार्य प्रारंभ होता है ।
समाज धर्म के ऊपरी कलेवर या नियमों को ही धर्म समझ
बैठता है और उन्हीं की पूजा में निरत होकर धर्म के तत्त्व को
भूल जाता है—वह परिवर्तन शील संसार में रहते हुए भी उन्हीं
पुराने जर्जर विधि-विधान या नियमों से चिपटा रहना चाहता

है। सन्तों, सुधारकों, और कवियों का यह काम होता है कि लोगों की इस जड़ता को दूर कर धर्म या सनातन सत्त्यों के असली तत्त्व को अपनी प्रतिभा के नवीन प्रकाश में लोगों के सामने रखें तथा उनके पालन के लिये देश कालानुसार नूतन साधनों या नियमों की योजना करें। शंकराचार्य, चैतन्य, नानक, कबीर, रामदास तथा तुलसीदास जी को भी वही कार्य करना पड़ा।

देश की समस्याएँ

गोस्वामी जी के सामने संक्षेप में निम्नलिखित प्रधान समस्याएँ थीं :—

१—व्यक्तिगत—लोग आदर्श हीन हो रहे थे। उनका आचरण पतित हो चला था।

२—पारिवारिक—व्यक्तियों के पतित होने से पारिवारिक संबंध विकृत हो गया था।

३—सामाजिक समाज के अंगों में संघटन की जगह विश्रंखलता आ गयी थी; वर्णाश्रम धर्म टूट सा चुका था; अपने कर्त्तव्यों का या स्वधर्म का विचार दूर हो गया था।

४—राजनीतिक—देश में विधर्मी राज्य कर रहे थे जिससे स्वधर्म व स्वजाति पर अत्याचार हो रहे थे।

५—धार्मिक—लोक—धर्म शिथिल हो चुका था। भिन्न-भिन्न मतों के चक्कर में लोगों को कोई एक सरल मार्ग सुझानेवाला न था। लोग नियमों को ही धर्म समझ बैठे थे। उन्हें असली धर्म तत्व बताने की जरूरत न थी।

जिस समय गोस्वामी जी का जन्म हुआ उस समय उन्होंने इस धर्म मर्यादा को बिगड़ा हुआ पाया। क्षत्रियों के कर्त्तव्य विमुख तथा अधिकार प्रिय होने से ही आपस में फूट

हुई जिससे विदेशियों का साम्राज्य हुआ । विधर्मी शासन ने देश की धार्मिक मर्यादा की और भी भंग करना शुरू किया । देश की आत्मा पहिले ही गुलाम हो चुकी थी जिसका ऊपरी फल देश की यह पराधीनता थी । विधर्मियों की तलवार के सामने धर्म की मर्यादा का पालन का ही नहीं, उस धर्म तथा धर्म के पालन करने वालों का, अस्तित्व ही संदेहजनक हो रहा था । सामयिक परिस्थिति का वर्णन करते हुए गोसाँई जी "विनय पत्रिका" में कहते हैं :—

“दीन दयाल दुरित दरिद दुखी दुनी सकल तिहुँ ताप तई है ।

देव दुवार पुकारत आरत सबकी सब सुख हानि भई है ॥

उस समय राज समाज का वर्णन करते हुए गोसाँई जी ने लिखा है कि राजा भूमि चोर (भूमि चोर भूप भये) तथा प्रजा को भक्षण करने वाले (भूप प्रजाशन) हो गये थे—

राज समाज कुसाज कोटि कटु,

कल्पत कुटिल कुसाज नई है ।

नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति

हेतुवाद हठ हेरि हई है ॥

ऐसे शासन से देश की साधारण जनता पर जो प्रभाव पड़ सकता था वही पड़ा । देश की साधारण प्रजा भी कितनी पतित तथा संघटन हीन हो गई थी वह इस गुलामी का ही फल था :—

प्रजा पतित पाखंड पाप रत,

अपने अपने रंग गई है ।

शान्ति सत्य शुभ रीति गई घटि,

बढ़ी कुरीति कपट कलई है ॥

रावणादि राजाओं के अत्याचारों के रूप में उन्होंने उस

समय के अत्याचारों का वर्णन किया है । जब समाज के नेता ब्राह्मणों ही की वृद्ध दशा थी कि:—

“प्रभु के वचन वेद बुध सम्मत,
मम मूरति मति देव मयी है ।”
तिनकी मति रिस राग मोह मद,
लोभ लालची लीलि लई है ॥

और क्षत्रिय समाज अपने ही आपस की फूट में मस्त था तब दुष्टों की प्रबलता और सज्जनोंको कष्ट होना स्वाभाविक ही है:—

“सीदति साधु साधुता सोचति,
विलसत खल हुलसति खलई है ॥

वर्णाश्रम धर्म तथा मर्यादा का तो लोप ही सा हो गया था:—

“आश्रम वरण धरम विरहित जग,
लोग वेद मर्याद गई है ।”

इससे नीचों का सिर पर चढ़ना बिल्कुल स्वाभाविक है:—

“त्योँ त्योँ नीच चढ़त सिर ऊपर,
ज्योँ ज्योँ शील वश ढील दर्ई है ।” (वि. प.)

उस समय हिन्दू समाज में उदासीनता और ढील से ही नीच लोग सिर पर चढ़ते जाते थे ।

धार्मिक स्थिति

धार्मिक नेता ब्राह्मण तथा देश के शासकों की स्वार्थ परता और उदासीनता के कारण जिसके मन में जो आता था वही करता था । विद्वान् सदाचारी ब्राह्मणों के अभाव से दंभी पाखंडी लोग धर्माचायें बन गये थे तथा प्राचीन वेद शास्त्रों को न जानने के कारण मनमाने नये नये पंथ चलाते जाते थे:—

“सकल धरम विपरीत कलि कल्पित कोटि कुपंथ ॥” (मानस)

इन भिन्न सम्प्रदायों तथा पंथों के कारण असली धर्म का तत्व लोप हो रहा था । आपसी झगड़े बढ़ गये थे तथा ऊपरी

आचारों को सदाचार से अधिक महत्व दिया जाने लगा था । पापियों पाखंडियों की पूजा होने लगी थी :—

“दंभ सहित कलि धरम सब, छल समेत व्यवहार ।

स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार ॥”

(दोहावली)

इस छोटे से दोहे में गुसाई जी ने उस समय की धार्मिक तथा नैतिक दुर्दशा का चित्र खींच दिया है । धर्म और सदाचार में सम्बन्ध टूट गया था । धर्म की दृढ़ता न होने से लोगों के आचरण भी पतित हो गये थे । प्राचीन वेद मार्ग को भूलकर लोग संप्रदायों और पंथों के झगड़े में पड़ गए थे ।

“श्रुति सम्मत ही भक्ति पथ संयुत विरति विवेक ।

तेहि परिहरहि विमोह वस कल्पहि पंथ अनेक ॥” (मानस)

विदेशी भाषाओं के प्रभाव से संस्कृत ज्ञान कम हो गया था जिससे लोग अपना आधार शास्त्र वचनों पर न रख संप्रदाय बादियों के वचनों को वेद वाक्य मानने लगे थे । लोगों ने विवेक से काम लेना छोड़ दिया था । केवल अंध श्रद्धा ही उनको प्रेरित करती थी । इससे बिना योग्यता के भी चाहे जो गुरु बन बैठता था । आज्ञान का अखण्ड राज्य था :—

“आगाम वेद पुरान बखानत

मारग कोटिन जाँहि न जाने ।

जे मुनि ते पुनि आपुहि आपको

ईस कहावत सिद्ध सयाने ॥

धर्म सबै कलिकाल प्रसे

जप योग विराग लै जीव पराने ।

को करि सोच मरै तुलसी

हम जान कि नाम के हाथ बिकाने ॥

(कबितावली)

कर्म उपासना और ज्ञान की दुर्दशा

कर्म उपासना और ज्ञान दोनों मार्गों का उपयोग किया जा रहा था। एक मार्ग पर चलने वाले शेष दोनों को निंदा करते थे तथा स्वयं भी अपने मार्ग पर हृदय न थे। केवल कर्मकाण्ड में लिप्त रहने वाले अपनी कामनाओं की पूर्ति में ही लीन थे; वे ज्ञान की उच्चता तथा भक्ति की सरलता से वंचित थे। अधिकांश ज्ञान मार्ग वाले एक तो ज्ञान की उच्चभूमि तक पहुँचने में असमर्थ थे और जो थे वे भी भक्ति मार्ग के विरोधी तथा हृदय हीन थे :—

वरन धरम गयौ आश्रम निवास तज्यो,
जागत चकित सो परावतो परोसो है।
कर्म उपासना कुवासना विनास्यो ज्ञान,
वचन विराग वेष जगत हरो सो है ॥
गोरख लजायो जोग भगति भगायो लोग,
निगम वियोग तासों कलिही छरो सो हैं।
काय मन वचन सुभाय तुलसी है ताहि
राम नाम के भरोसे ताहि को भरोसो है ॥

(कवितावली)

भक्ति-मार्ग वाले भी केवल ऊपरी दिखावे को ही भक्ति समझ रहे थे। हृदय और धर्म से बिल्कुल सम्बन्ध टूट गया था; धार्मिक क्रियाएँ केवल शुष्क, हृदयहीन और दिखाऊ रह गई थी। प्रेम जो कि धर्म का मूल है और जो संसार की भलाई कर सकता है, वह धर्म से बिल्कुल अलग समझा जाने लगा था। ऊपरी क्रिया-कलाप ही धार्मिकता के लिये काफी समझे जाते थे, चाहे उसके भीतरी आचरण कितने भी पतित क्यों न हों। आडम्बर और ऊपरी बातों ने धर्म का, दर्भ ने सदाचार का, हृदय हीनता ने ज्ञानका, आलस्य ने कर्म का

स्थान ले लिया था। आचार हीनता ही वैराग्य का लक्षण मानी जाती थी, (१) बकवाद ही पांडित्य का चिन्ह समझी जाती थी, (२) बाहरी जटा-कलाप ही तपस्या का प्रमाण माना जाता था, (३) परधन-हरण ही सयानपन था और (४) बकवास ही वक्ता की निशानी समझी जाती थी (५)

गुसाई जी के समय अनेक प्रकार के साधु पाये जाते थे। एक तो कोरे ज्ञानी दूसरे प्राचीन मार्ग के कर्मकांडी तथा तीसरे सिद्धि चाहने वाले कुयोगी। ये तीनों ही अपना आदर्श छोड़ चुके थे। वे अपने व्यक्तिगत ज्ञान ही में इतने लीन थे कि उन्हें देश-दशा में बिल्कुल मतलब न था। व्यक्तिगत सिद्धि की इच्छा ने धर्म के लोक व्यापी स्वरूप को बिल्कुल ही भुला दिया था। धर्म, लोक की धारणा के लिये नहीं किन्तु व्यक्तिगत साधना के लिये ही रह गया था। इससे धर्म और जातीयता का, व्यक्ति और राष्ट्र का, सम्बन्ध बिल्कुल विच्छेद सा हो गया था। जातीय आदर्श बिल्कुल विस्मृत हो गया था। जग से उदासीन रहने वाले अव्यक्त निर्गुण ईश्वर की खोज में रहने के कारण लोग इतने शुष्क हृदय हो गये थे कि उसी ईश्वर की संतान को अपने दरवाजे भूखों मरते हुए देखकर भी न पसीजते

(१) निराचार जो श्रुति पथ त्यागी ।

कलियुग सोई ज्ञानी वैरागी ॥

(२) पंडित सोई जो गाल बजावा ।

(३) जाके नख अरु जटा विशाला ।

सो तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥

(४) सो सवान जो परधन हारी ।

(५) मन क्रम वचन लवार

सो वक्ता कलि काल यह ॥

थे । परतिय-लंपटता ही उनके अभेदवाद का प्रमाण बन गयी थी ।

जिस प्रकार व्यक्ति और समाज का संबंध शिथिल पड़ गया था उसी प्रकार व्यक्ति और परिवार का तथा एक व्यक्ति फा दूसरे व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध भी शिथिल हो गया था । विवाह बन्धन का धार्मिक आदर्श शिथिल होने के कारण स्त्रियाँ स्वेच्छा चारिणी तथा पुरुष परतिय-लंपट हो गये थे । सब प्रकार के बन्धन तथा मर्यादा हो ढीली हो गई थी । समाज संघटन भंग हो गया था, व्यक्तिगत तथा सामाजिक साधारण और विशेष, सभी धर्मों की मर्यादा भंग हो गई थी ।

मर्यादा भंग होने के कारण सब प्रकार के पाप ताप बढ़ गये थे । देश में महामारी आदि रोगों का प्रकोप था । दारिद्र्यता का अखण्ड राज्य फैल रहा था । इन सब को गुसाईं जी पाप का परिणाम समझते हैं । समय पर पानी न बरसना, खेती का ठीक समय पर न पकना, बोने पर भी उपज न होना रोजगार तथा नोकरी का अभाव, राज्य की ओर से कृषि तथा गो रक्षा का ठीक प्रबन्ध न होना आदि का वर्णन कर उन्होंने समय की दशा का वर्णन किया है ।

आर्थिक पराधीनता का चित्र देखिये:—

खेती न किसान को भिन्वारी को न भीख बलि,

बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी ।

जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,

कहैं एक एकन सों कहाँ जाय का करी ॥

वेद हू पुरान के ही लोकहू बिलोकियत,

सांकरे सबै पै राम रावरी कृपा करी ।

दारिद दसानन दबाई हुनी दीनबंधु

दुरित दहत देखि तुलसी हहा करी ॥

किसवी किसान कुज बनिक भिखारी भांट

चाकर चपल नट चोर चार चेटकी ।

पेट को पढ़त गुन गढ़त चढ़त गिरि

अटत गहन वन अहन अखेटकी ॥

ऊँच नीचे करम धरम अधरम करि

पेट ही को पचत बेचत बेटा बेटकी ॥

तुलसी बुझाइ एक राम घनश्याम ही तैं ।

आगि बड़िबागि तैं बड़ी है आगि पेट की ॥ (कवितावली)

इस प्रकार “पेटागि” बुझाने के लिये भी उन्होंने राम घन-श्याम ही का आश्रय लिया । सागंश में देश देश का दिग्दर्शन इस प्रकार है:—

वेद पुरान विहाय कुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है ।

काल कराल नृपाल कृपालन राज समाज बड़ोइ छली है ॥

वर्ग विभागन आश्रम धर्म दुनी दुख दोष दारिद्र दली हैं ।

स्वारथ को परमारथ को कलि राम को नाम प्रताप बली है ॥

(क० उ० ८५)

इस छंद में सामयिक बुराइयों का गोस्वामी जी ने वर्णन किया है तथा सब को पापों का फल बताया है ।

साहित्यिक दशा

उस समय की साहित्यिक अवस्था भी बहुत शोचनीय थी । साहित्य निर्माता ब्राह्मण ही जब लोक हितैषणा से शून्य हो गये थे तब जनता को सत् साहित्य कौन देता ? कहा जाता है साहित्यिक अवस्था से किसी काल की दशा का पता लगता है । उस समय के राज्याश्रित कवियों ने अपनी स्वतंत्रता बिलासी और अधर्म युद्ध प्रिय राजाओं के हाथ बेच दी थी, जिससे हमें नायिका

भेद का अश्लील साहित्य, प्रेम गाथा तथा कभी कभी वीर साहित्य मिल जाता है। उस समय साहित्यिक रुचि स्वभाव के अनुकूल ही कुरुचि सम्पन्न हो रही थी। फिर यह साहित्य संस्कृत पंडितों तथा राज महलों तक ही सीमाबद्ध था। साधारण जनता लोक भाषा साहित्य के बिना बिल्कुल निराधार थी। संस्कृत के पंडित अपना अधिकार जमाये बैठे थे और भाषा में लिखना अपना अपमान समझते थे। अतः लोक शिक्षा, जिसके द्वारा लोक धर्म का प्रचार हो सकता था, बिल्कुल ही नहीं थी। जातीय साहित्य के बिना जाति असंघटित पड़ी थी। हिन्दी में उस समय ऐसा कोई ग्रन्थ न था जो व्यक्तिगत और जातीय आदर्श को उपस्थित करता।

तुलसी का उद्भव

इन परिस्थितियों में एक ब्राह्मण के घर बालक “राम बोला” का जन्म होता है और शीघ्र ही उसे अपने माता पिता का वियोग सहन करना पड़ती है। इस प्रकार बालक तुलसी बचपन ही से स्वावलंबन तथा जगत पिता का अवलंब लेना सीखते हैं। भ्रमण से उन्हें देश दशा का परिचय होता है तथा संतों के समागम से गुरु से भेंट हो जाती है। वेही गुरु उनको राम परिचय के साधन रूप हो जाते हैं। यहीं से उन्हें राम कथा का स्वाद मिलता है और उसका स्वाद सपार को चरवाने के लिये उनमें व्याकुलता उत्पन्न होती है। द्वार द्वार भोख मांगने से निराश होकर अब वे विश्व सम्राट् का दरवाजा खटखटाते हैं। वहां से अन्त में “भक्ति-सुधा-सुनाज” की मन-माँगी भिक्षा पाकर स्वयं तृप्त होते हैं और संसार को भी तृप्त करते हैं। व्यक्तिगत साधना के साथ भजन अध्ययन तथा भ्रमण के द्वारा देश दशा का निरीक्षण भी चलता जाता है। अब वह घटना आती है जिससे कि इस महात्मा का अन्त

व्यक्तित्व प्रगट होता है। दांपत्य प्रेम में तन मन से लवलीन रहने के बाद वह जगत् प्रसिद्ध घटना घटती है जो उनके प्रेम की दशा को एक ओर से बिल्कुल दूसरी ओर परिवर्तित कर देती है—काम से विमुख कर राम के सन्मुख कर देती है। हृदय में छिपी हुई प्रेम शक्ति जो कि अब तक परिमित केन्द्र में केन्द्रित थी वह अब विश्व के मूल केन्द्र को अपना केन्द्र बनाती है और अपने प्रेमी को जग में रमा हुआ अनुभव कर सारे संसार को अपनी परिधि के भीतर कर लेती है। वही शक्ति अपने राम का परिचय सारे जगत् को देने के लिये उसे अजर अमर “मानस” का निर्माण कराती है।

अब ये महात्मा घर छोड़कर विश्व को अपना घर बनाते हैं तथा उस विश्व गृह के निवासी को समाज के दुख से एकाकार कर उनमें रमें हुए राम का सुख अनुभव स्वयं करते हैं और सब को कराते हैं; लोकोपकार के द्वारा अपने हृदय सम्राट् के दर्शन करने हैं तथा देश की दशा का अच्छी तरह अध्ययन करके उसके सुधार के उपाय सोचते हैं। वे ग्रन्थ रचना को ही समाज सुधार का सर्वोत्तम साधन समझ उसी में तत्पर हो जाते हैं और एक स्थान में स्थिर होकर अपनी रचनाओं के द्वारा संसार तक अपना संदेश पहुँचाते हैं।

तुलसीदास का स्वभाव

“मानस” रचकर प्रगट करने के पहले गोसाँई जी उसको पहिले अपने मानस में रचते हैं; संसार के मन मुकुर के सुधारने के पहिले वे अपने मन मुकुर की सुधारता आवश्यक समझते हैं। मानस में जितने भक्तों के आचरण वर्णित है वे उनको पहिले अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारते हैं। दुष्टों के द्वारा सताये जाने पर भी वे शान्त सरल चित रहते हैं; चोरों को सर्वस्व दान

कर अपना अटल वैराग्य दिखलाते हैं; राम के सिवा किसी संसारी राजा को अपना सिर झुका कर अपनी भक्ति का असली स्वरूप प्रगट करते हैं। वे किसी से कुछ आशा नहीं रखते और न किसी की परवा करते। केवल एक राम के सामने सिर झुका कर अपनी अनन्य भक्ति दर्शाते हैं; अद्वितीय विद्वान होते हुए भी निरभिमान रहते हैं किन्तु उसके साथ स्वाभिमान भी नहीं छोड़ते। राजा-रंक, गरीब-अमीर, छूत-अछूत सब पर समान भाव रख कर सम दृष्टि से राम के भक्त बनते हैं, तथा दया, करुणा ये अवतार होकर राम भक्ति के सच्चे अधिकारी सिद्ध होते हैं। सारांश यह है कि वे जिस सत स्वभाव का आदर्श संसार के सामने बारबार रखते हैं, पहिले स्वयं उसकी-मूर्ति बन जाते हैं। गुसाईं जी “पर उपदेश कुशल बहुतेरे” में से नहीं किन्तु स्वयं आचरण करने वाले बिरले लोगों में से हैं। उनके संत स्वभाव के लक्षणों को यदि एकत्र देखना है तो गोस्वामी जी के स्वभाव में ही मिल सकते हैं।

अपने स्वभाव का वर्णन स्वयं ही इस प्रकार करते हैं :—

“हित सों हित रति राम सों, रिपु सों बैर बिहाउ ।

उदासीन सब सों सरल, तुलसी सहज सुमाउ ॥

तुलसी ममता राम पद, समता सब संसार ।

राग न रोव न दोष दुःख, दास भये भव पार ॥

(दाहावली)

×

×

×

जाप की न तप ताप कियो न तपाई योग,
याग न बिराग त्याग तीरथ न तन को ।
भाई को भरोसो न खरो सो बैर बैरी हू सो,
बल अपनो न हित जननी जनक को ॥

लोक को न डर परलोक को न सोच देव,
सेवा न सहाय गर्व धाम को न धन को ।
राम के ही नाम सों जो होय सोई नोकी लागे;
ऐसोई सुभाव कछु तुलसी के मन को ॥
(कवितावली)

× × ×

मेरी जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को ।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो तुलसी के एक नाम को ।
अति ही अयानों उपाखानों नहिं बूझै लोग,
साह ही कौ गोत गोत होत है गुलाम को ।
साधु कै असाधु कै भलो कै पौच सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं जो हों सो हौं राम को,
(कवितावली)

× × ×

देश भक्ति

“परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो”
(विनय)

परहित साधन को वे राम भक्ति का ही अंग समझते हैं:—
भारत में जन्म लेने को गौरव मानते हैं:—

- (१) कौन की त्रास करै तुलसी जोपै राखिहैं राम तो मारहैं को रे ।
- (२) तुलसी अब का होहिगे नर के मनसब द्वार ।
- (३) तुलसी दास रघुबीर बाहुबल सदा अभै काहू न डरै ।

“भलि भारत भूमि भले कुल जन्म,
समाज सुठाम भलो लहिकै । (कविता०)

उनकी देश भक्ति भी जगत् में रमे हुए राम की उपासना की साधिका थीं । भक्ति और प्रेम से उनका हृदय इतना पूरित हो गया था कि वे देश के दुःख को नहीं देख सकते थे । उनका कोमल हृदय उससे लुब्ध हो जाता था और वे उस कष्ट को दूर करने की सच्चे हृदय से प्रार्थना करते थे । कवितावली के वर्णनों से प्रगट होता है कि उनका अन्तःकरण देश दशा को सुधारने के लिये कितना व्याकुल था । उस समय के शासकों के अत्याचारों तथा महामारी आदि के प्रकोप से प्रजा को बचाने के लिये वे अनेक प्रार्थनाएँ करते थे:—

“एक तौ कराल कलिकाल सूल-मूल तामें,
कोढ़ में की खाज सी सनीचरी है मीन की ।

वेद धर्म दूरि गये, भूमि चोर भूप भये;
साधु सीधमान जानि रीत पाप पीन की ॥

दूधरे को दूसरो ब द्वार राम कृपा धाम,
राबरीई गति बल विभव बिहीन की ।

लागैगी पै लाज या बिराजमान बिरुद्धि,
महाराज आजु जौ न देत दादि दीन की ॥

(क० उ० १७७)

विनय पत्रिका में भी पर यह देश हितैषी प्रार्थना करते हैं:—

“सरुष बराज तरजिये तरजनी
कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है ।

दीजै दादि देखि नातौ बलि
मही मोद मंगल रितई है ॥”

विनय पत्रिका के आरंभ से अत तक जगत् पिता के प्रति एक दुःखी देश हितैषी की अर्जी है। यह अर्जी विश्व सम्राट् के सम्मुख पेश की गई और उन्होंने प्रसन्न होकर उसे मंजूर भी कर लिया जिसके फल स्वरूपः—

“राम राज भयो काज सगुन शुभ, राजा राम जगत बिजई है ।
समरथ बड़े सुजान सिरोमनि सुकृत सेन। हारत जितई है ॥”

राम राज्य

राम-राज्य को गुसाईं जी ने सब आपत्तियों को दूर करने तथा सब समस्याओं को हल करने का एक मात्र उपाय बताया है। राम-राज्य धर्म-राज्य का आदर्श है। गुसाईं जी ने धार्मिक समस्या को ही भारत की प्रधान समस्या माना है। किन्तु राजनीतिक समस्या भी इतनी प्रबल थी कि वह अलग नहीं की जा सकती थी। इसीलिये उन्होंने राम-राज्य के द्वारा इन दोनों समस्याओं को हल करने का उपाय निकाला। धर्म स्थापना के लिये पहिला काम दुष्टों का दमन है। बिना सुराज्य या धर्म राज्य के धर्म साधन संभव नहीं। कुराज्य में, अत्याचारी शासन में, वह शान्ति पूर्वक वातावरण नहीं मिलता जो कि धार्मिक साधना और समाज संवटन के लिये आवश्यक हैः—

“चढ़े बधूरे चंग ज्यों, ज्ञान ज्यों सोक समाज ।

करम धरम सुख सम्पदा त्यों जानिये कुराज ॥

(दोहावली)

×

×

×

समर्थ रामदास स्वामी के समान तुलसीदास ने भी धर्म और राजनीति का समन्वय कराया ।

धर्म राजनीति का समन्वय

धर्म और राजनीति के घनिष्ठ संबंध को गुसाईं जी ने

अच्छी तरह समझ लिया था । धर्म मर्यादा स्थापन के लिये पहले आदर्श राज्य की योजना ही देश की सबसे पहिली आवश्यकता उन्होंने समझी । उस पराधीनता और अत्याचार के युग में भी उन्होंने स्वाधीनता और स्वराज्य की आवाज उठाई और इसी उद्देश्य से उन्होंने ग्रन्थ रचना की । राम चरित मानस के आरम्भ ही में जिन राजसी अत्याचारों का चित्र खींचा गया है उसका स्पष्ट लक्ष्य उस समय के शासकों की ओर था ।

“जिह बिधि होत धरम निरमूला ।

सो सब करहि वेद प्रतिकूला ॥

जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहि ।

नगर गाँव पुर आगि लगावहि ॥

(मानस)

इसे स्पष्ट करने को गुसाईं जी लिखते हैं:—

जिनके अस आचरन भवानी ।

सो जानहु निसिचर सम प्रानी ॥

(मानस)

×

×

×

गोंड गँवार नृपाल कलि

जवन महा महिपाल ।

साम न दान न भेद कछु

केवल दंड कराल ॥

(दोहा०)

रावण कृत सीता हरण उस स्त्री-हरण का एक उदाहरण मात्र है जो कि उस समय के शासकों के लिये मामूली बात थी । साधु-सज्जन इनके भय से जब गिरि कन्दरों में छिपने लगे कोई

स्वदेशी राजा भी इनकी रक्षा के लिये खड़ा नहीं हुआ तब गोस्वामी जी ने भारत भूमि को गौ के रूप में सर्व व्यापी जगत् पिता की शरण में ले जाते हैं। इसके फलस्वरूप राम के रूप में एक जातीय नेता प्रगट होता है जो कि अपने धर्म तथा त्याग पूर्ण आचरण से सारी जनता का मन अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। बालपन से ही वे दुष्ट दमन का कार्य आरंभ करते हैं और उनके प्रजा रजन से प्रजा के अत्यन्त प्रिय बन जाते हैं। उनके बन गमन के समय प्रजा इतनी व्याकुल हो जाती है मानों उसका कोई संबंधी ही जा रहा हो। वे बन में भी दुष्ट दमन जारी रखते हैं। देशवासियों के दुख समूह देख कर वे “निशिचर हीन करों महि” की प्रतिज्ञा करते हैं। सीता हरण से उन्हें इसे पूर्ण करने का अवसर मिल जाता है और तब जगत् का अद्वितीय युद्ध होता है जिसके फल स्वरूप धर्म की जय और अधर्म की पराजय होती है।

तुलसी का राजनीतिक कार्य

राम-राज्य की स्थापना

धर्म की मर्यादा और जग मंगल करना ही रामावतार का आदर्श है।

“धरम के सेतु जगमंगल के हेतु,

भूमिभार हरिबे को अवतार लियो नर को। (कविता०)

अधर्म नाश के बाद धर्म राज आरम्भ होता है जिसमें धर्म साधना को पूरा विकास मिलता है। फिर से समाज का संघटित रूप प्रगट होता है जिसमें सबकी मर्यादा तथा कर्त्तव्य बँधा हुआ है। उसके साथ-साथ सबको कर्त्तव्यानुसार अधिकार भी हैं। पूर्ण समता का राज्य है। विषमता का बिलकुल नाश हो

जाता है—‘रामप्रताप विषमता खोई’ ।

दंडनीति कार्य दुष्ट दमन से समाप्त हो जाता है, अब धर्म नीति का शासन आरम्भ होता है। दंड को एक तरफ रखकर राम चारित्र बल से प्रजा पर शासन करते हैं। उनका राज्य व्याक्तिगत राज्य (Personal monarchy) है उनका राज्य धर्म राज्य है। एक तंत्रराज्य होते हुए भी उसमें प्रजा को मत देने का ही नहीं किन्तु राजा के पारिवारिक जीवन तक की पूरी आलोचना का अधिकार है। राजा प्रजा रंजन के लिये अपनी व्यक्तिगत सत्ता प्रजा की इच्छा पर अर्पण कर देता है और लुट से लुट प्रजा को प्रसन्न करने के लिये अपनी प्राण प्रिया तक को त्यागने में भी आनाकानी नहीं करता। उनका चरित्र बल ही इतना प्रबल है, उनका धार्मिक भाव इतना उच्च है कि प्रजा में सदाचार फैलाना स्वाभाविक हो जाता है :—

“राम राज राजत सकल, धरम निरत नरनारि ।

राग न रोष न दोष दुख, सुलभ पदारथ चारि ॥ (दोहा०)

सुख के साथ संपत्ति की भी वृद्धि होती है, देश की आर्थिक दशा सुधरती है। इसमें कृषि, शिल्प, वाणज्य आदि सभी की उन्नति पर पूरा ध्यान दिया जाता है;—

“खेती बनि विद्या बनिज, सेवा शिल्प समाज ।

तुलसी सुरतरु सरिस सब, सुलभ राम के राज ॥” (दो०)

कृषि की उन्नति से भूमि की उपज भी बढ़ती है तथा गो सेवा से दूध दही का नदियाँ बहती हैं। वहाँ न कोई दुःखी है न दरिद्र है।

“नाहं दरिद्र कोउ दुखी न दोना ।

नहिं कोउ अवुध न लच्छन हीना ॥” (मा०)

विद्या का भी यहाँ काफी प्रचार है अवुध और विद्या हीन स्त्री पुरुष दूढ़ने से भी नहीं मिलते। समाज के सब अंगों में

सद् व्यवहार है; उच्च कार्य करने वालों का आदर है; नीच कर्म कर समाज सेवा करने वालों पर प्रेम है। स्त्री पुरुष में भी बराबरी का सम्बन्ध है। एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्य को सब अच्छी तरह जानते हैं। सब में परस्पर प्रीति है; मनुष्यों हो में नहीं जंगली जन्तुओं में भी बैर विरोध नहीं। इस प्रकार (Equality Liberty and Fraternity) समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृ भाव जो कि आदर्श राज्य के बिन्दु है, वे सब रामराज्य में वर्तमान है।

अधर्म न होने से रोगों का भी अभाव है—लोग तीन तापों से रहित हैं; न रोग है न अल्प-मृत्यु और न पीड़ा। तुलसीदास रामराज्य वर्णन में सब बातें स्पष्टता से लिखते हैं। (मानस उत्तर ० रामराज्यदिनेश) इस प्रकार तुलसीदास ने देश के सामने जो उच्च राजनीतिक आदर्श रक्खा है वह धर्म से बिल्कुल एक रूप है। जिस राष्ट्रीय आदर्श की तरफ गोमाँई गोसाँई जी ने राष्ट्र को आकर्षित किया है वह सचमुच अद्वितीय है। उनके ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य राष्ट्रीय जागृति है उनकी राजनीति धर्म से अलग नहीं किन्तु उस विशाल धर्म का एक अंग है, साधन है।



तुलसीदास का धर्म सुधार कार्य

भक्ति मार्ग

पन्द्रहवीं तथा १६ वीं शताब्दी में समस्त भारत में भक्ति की प्रबल सरिता बह निकली थी। इसमें विष्णु के अवतारों की भक्ति तथा शिव भक्ति सम्मिलित थी। मद्रास में नंबलवर आदि संतगण, महाराष्ट्र में रामदास, तुकाराम, एकनाथ आदि गुजरात में नरसी मेहता आदि; राजपूताना में मीराँ बाई, उत्तर भारत में बल्लभाचार्य, सूरदास, नाभादाम, नानक, रैदास, धन्ना, पीपा, धरमदास आदि तथा बंगाल में चैतन्य आदि भक्तों ने इस भक्ति मार्ग में प्रधान नेतृत्व लिया।

इस्लाम धर्म

उस समय भारत में मुसलमानों का पदार्पण हो चुका था। भक्ति मार्ग का उन पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा और उनमें भी अनेक भक्त उत्पन्न हुए। मुसलमान फकीरों ने भी इसमें योगदान दिया। मुसलमान धर्म के सूफी मार्ग तथा हिन्दू धर्म के भक्ति मार्ग का खूब संमिश्रण हुआ।

भक्ति के प्रकार

१६ वीं सदी में कबीर नानक आदि के कारण निर्गुण की भक्ति का प्रचार हो रहा था। मुसलमान धर्म में भी इसी निराकार परमात्मा की भक्ति का उपदेश है। किन्तु १६वीं सदी में भक्ति के प्रकार में फिर परिवर्तन हुआ। निकाकार की जगह साकार ब्रह्म की भक्ति का प्रचार हुआ। विष्णु की विविध रूपों की पूजा आराधना चल पड़ी। इनमें से राम और कृष्ण रूप की ही प्रधानता रही। बंगाल में चैतन्य ने तथा उत्तर भारत में बल्लभाचार्य सूरदास आदि ने कृष्ण भक्ति की सरिता बहाई।

तुलसीदास

अब हमें देखना है कि तुलसीदास जी के समय में कौन-कौन से मत मतान्तर प्रचलित थे, उनके सामने कौन सा कार्य क्षेत्र था और उन्होंने समय की आवश्यकता की पूर्ति के लिये किस मार्ग का अवलम्बन किया।

ज्ञान और भक्ति मार्ग

यद्यपि भक्ति मार्ग की सरिता जोरों से बह रही थी और सगुण साकार ब्रह्म की उपासना का बेग से प्रचार हो रहा था, किन्तु निर्गुण ब्रह्म के उपासकों, ज्ञान मार्ग के पक्षपातियों तथा भक्ति मार्ग के विरोधियों की भी कमी नहीं थी। इन लोगों में अक्सर वाद विवाद तथा लड़ाई झगड़े तक भी हुआ करते थे।

शिव और विष्णु भक्ति

यह कहा जा चुका है कि भक्ति मार्ग में एक पर ब्रह्म के स्थान पर त्रिमूर्ति की उपासना प्रचलित हुई। उन त्रिमूर्ति

में से ब्रह्मा की पूजा मिलकुल लुप्त हो चुकी थी। विष्णु और शिव भक्ति का ही चारों ओर प्रचार था। शैवों और वैष्णवों में विरोध तथा झगड़ों का प्राबल्य था। एक दूसरे को वे द्वेष की दृष्टि से देखते तथा अपने मत की पुष्टि करते थे। असली भक्ति का तत्व लोग भूल रहे थे, ऊपरी बातों तथा मत मतान्तरों ही में फँसे रह जाते थे।

राम और कृष्ण

विष्णु के दश अवतारों में से राम और कृष्ण के अतिरिक्त शेष अवतार जनता के हृदय से लुप्तप्राय हो गये थे। भक्ति का केन्द्र इन्हीं दोनों पर था। कृष्ण भक्तों का प्रधान केन्द्र ब्रज तथा रामोपासकों का अयोध्या था। इन दोनों में भी एक दूसरे को ऊँचा नीचा समझने के कारण कलह की कमी न थी।

समय की आवश्यकता

ऐसी धार्मिक असहिष्णुता, धर्म रत्नानि तथा मत मतान्तरों के अवसर पर एक ऐसे धर्मोपदेशक की आवश्यकता थी जो अपनी धार्मिक उदारता के द्वारा मतान्तरों में एकता स्थापित कर, प्राचीन धर्म के आधार पर लोगों को सरल तथा सच्चे मार्ग का उपदेश कोरा उपदेश ही न दे किन्तु अपने आचरणों से उसका प्रत्यक्ष रूप दिखा दे और सबे सुलभ एक सीधे मार्ग को प्रशस्त करे।

तुलसीदास के सामने प्रश्न ये थे:—(१) प्राचीन वैदिक धर्म की श्रेष्ठता स्थापन (२) उसके आधार पर स्थापित मतों में एकता जैसे ज्ञान, भक्ति, कर्म में सामञ्जस्य निर्गुण सगुण एकेश्वरवाद बहुदेववाद विष्णु शिव, राम कृष्ण आदि में सामञ्जस्य (३) उसके आधार पर सुलभ भक्ति मार्ग की स्थापना।

उसकी पूर्ति करने का मार्ग

गुसाईं तुलसीदास जी ऐसे ही धार्मिक सुधारक महात्मा थे । पहले तो उन्होंने लोगों की रुचि को परखा, समय की जरूरतों को जाँचा तथा धर्म प्रचार के मार्ग को निश्चित किया ।

उनके सामने प्रधान कार्य प्रचलित मतों में एकता स्थापित करने का था, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है । एक नये पंथ चला देने से यह प्रश्न हल न होता—ऐसा करने से अनेक मार्गों और पंथों में एक और भी नया पंथ जुड़ जाता । अपने पूर्व के धर्म प्रचारकों के समान गुसाईं जी ने कोई नया पंथ चलाने का उपाय ठीक न समझा । यही कारण है कि वे विभिन्न-ताओं में एकता स्थापित कर सके । इनके अनुयायी सभी मार्गों में से थे ।

धार्मिक सुधारक में उदारता ही परमावश्यक गुण है और यह गुसाईं जी में पूर्णरूप से पाया जाता है । दूसरे मतों के प्रति इतनी उदारता दिखलाकर उन्हें अपने मत से मिला लेने वाले गुसाईं जी के समान बहुत कम धार्मिक सुधारक मिलेंगे । उनकी इस उदारता ने कार्पेंटर साहब को भी मुग्ध कर लिया है । आप रहते हैं :—

As a teacher he was liberal-minded even for a Ramanandi..... like all Hindus he was endowed with great tolerance of belief and was able to find room for at least, passive acceptance of doctrines which did not rise with him to a place in the sphere of the true and abiding, ("Theology of Tulsī Das").

अर्थात् “रामानंदी उपदेशक होने पर भी गुसाईं जी बहुत उदार मत के थे। अन्य हिन्दुओं के समान वे भी धार्मिक उदारता से युक्त थे और अपने से भिन्न सिद्धान्तों को भी परोक्ष रूप से स्वीकार कर लेते थे।

वे दूसरों के विश्वासों तथा अपने सिद्धान्तों में एकता स्थापित करने में बहुत निपुण थे। उन्होंने अपने उदार मत में सभी मतों को एकत्र कर लिया था। यही कारण है कि उनके इतने अनुयायी होते हुए भी कोई “तुलसी पंथ” नहीं है। ग्राउस साहब मानस के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में कहते हैं—“यह एक महत्व पूर्ण बात है कि अन्य पंथों के समान तुलसीदास ने कोई नया पंथ स्थापित नहीं किया।” कांपेंटर साहब कहते हैं :—

Tulsi Das was not a reformer. He founded no new sect and gave voice to no new doctrine. His religious position lies rather in his being a mouth piece of Ramanandi teaching (Theology of Tulsi Das.)

अर्थात् गोसाँई जी कोई सुधारक न थे। उन्होंने कोई नया दल नहीं बनाया और न कोई नये सिद्धान्तों का प्रचार किया। वे केवल रामानंदी मत के एक प्रचारक थे।)

यह बात तो ठीक है कि गुसाईं जी ने कोई अलग मत स्थापित नहीं किया। किन्तु यह कहना कि वे कोई सुधारक ही न थे उन पर अन्याय करना है। महान् सुधारक होते हुए भी उनमें विशेषता यही थी कि वे एक नया दल स्थापित कर सुधार नहीं करना चाहते थे। उनका सिद्धान्त विरोध करके सुधार करना न था वरन् सबमें मिलकर तथा उनके मतों को अपना कर सुधार करना ही उनका उद्देश्य था। यही कारण है कि गुसाईं जी इतने

लोक-प्रिय तथा सर्व मान्य हो सके और सभी मतों के लोगों पर अपने मत का प्रभाव डाल सके ।

ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग का सामंजस्य, निर्गुण सगुण में एकता स्थापित कर, शिव और विष्णु को समानता का स्थान दे, विविध देवी देवताओं को एकाकर कर, राम और कृष्ण को एक ही समस्त तथा अन्य मता बलवियों को उदारता की दृष्टि से देखकर गोसाँई जी ने अपने समय की धार्मिक समस्या को हल किया । देवताओं को राम के सेवकों के रूप में रखा और इस प्रकार अद्वैतमत और बहुदेववाद में मेल किया । शैव और वैष्णव मतों में मेल करने के लिये उन्होंने राम को शिव का और शिव को राम के सेवक के रूप में चित्रित किया तथा दोनों को एक बराबर प्रधानता दी । उन्होंने ज्ञान और भक्ति इन दोनों मार्गों का साथ साथ विवेचन कर उनके विरोध को मिटाया ।

उक्त विरुद्ध मतों में एकता स्थापित करते हुए भी गोसाँई जी अपने मत का विशेष भुकाव बताए बिना न रह सके । निर्गुण सगुण की एक रूपता सिद्ध करके भी उन्होंने सगुणोपासना ही को प्रधानता ही तथा भक्ति और ज्ञान को एक समझते हुए भी भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्व दिया । गोसाँई जी की यही विशेषता है कि उन्होंने विरोध भी निवारण किया और अपने विशेष सिद्धांत को भी स्थिर रखा ।

तुलसी की विशेषता

एकता स्थापित करने में तो तुलसीदास अद्वितीय धर्म सुधारक थे । मानस का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना मानों हिन्दू धर्म के सब अंग प्रत्यंगों, विविध मतों, अनेक पंथों, अनेक शास्त्रों आदि सबका ज्ञान एक जगह ही प्राप्त कर लेना है । मानस में

वैदिक काल से लेकर तुलसी-काल तक के पूर्व गत विविध दर्शनों, पंथों तथा मतों का सामान्य परिचय तथा सबके लिये उपयोगी सामग्री मिलती है। ज्ञान मार्ग के प्रतिपादकों को गूढ़ ब्रह्म का विवेचन तथा सरल मार्ग चादने वालों को भक्ति का सीधा साधा उपाय हाथ लग जाता है जिससे बिना ही श्रम किये मुक्ति और भक्ति दोनों सुलभ हो जाती हैं। भारतवर्ष को एक ऐसे ही धर्म शास्त्र की जरूरत थी कि जिसमें हिन्दू धर्म के सभी तत्वों का समन्वय तथा सबका स्पष्ट विवेचन हो। गोसाँई जी ही ऐसे उपदेशक तथा धर्माचार्य हुए कि जिन्होंने हिन्दू धर्म की इस आवश्यकता को पूरा किया।

यह तो हुई विद्वानों और तत्व विवेचकों की आवश्यकता की पूर्ति। किन्तु इससे साधारण जनता की जरूरत पूरी नहीं होती। वह धर्म के मत मतान्तरों के पचड़े में पड़कर अपने लिये एक सुलभ आदर्श तथा उस तक पहुँचने का सरल मार्ग चाहती है। यह समाज की एक बड़ी भारी आवश्यकता थी और इसी की पूर्ति के लिये गोसाँई जी ने संस्कृत को छोड़कर जनता की मातृभाषा ही में उनके लिये एक सुलभ मार्ग रख दिया।

तुलसीदास का कार्य

व्यष्टि और समष्टि

कुछ विद्वान् व्यक्ति को समाज से अधिक महत्व देते हैं किन्तु अन्य विद्वानों का सिद्धान्त है कि व्यक्ति समाज का एक अंग मात्र है, वह सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है। गोसाँई जी ने दोनों का सामंजस्य किया है। राष्ट्रीय संगठन पर प्रधान लक्ष्य रखते हुए भी उन्होंने व्यक्ति को नहीं भुलाया क्योंकि व्यक्ति ही समाज का मूलधार है। लोक धर्म की

स्थापना की बड़ी भारी आवश्यकता है किन्तु उसके लिये व्यक्तिगत साधन भी आवश्यक हैं । वे व्यक्तिगत साधन को मानते हुए भी उसे लोक धर्म का ही अंग समझते हैं । जब तक धार्मिक व्यक्ति न होंगे तब तक धार्मिक समाज नहीं बन सकता । व्यक्ति के जीवन का विकास ही परिवार और समाज है । अतः व्यक्तिगत जीवन के अंगों को जब तक पुष्ट नहीं किया जावेगा तब तक समाज पुष्ट नहीं हो सकता । धार्मिक जीवन को पवित्र कर लोगों के व्यक्तिगत आचरण तथा सामाजिक व्यवहार सुधारना हो गोसांई जी ने सब समस्याओं के हल करने का उपाय समझा । इसके लिये एक ऐसे लोक धर्म की प्रतिष्ठा की आवश्यकता हुई जिसमें (१) व्यक्ति को धार्मिक नैतिक तथा सामाजिक पूर्ण उन्नति हो (२) व्यक्ति, आदर्श, परिवार, और आदर्श-समाज का अंग बन सके (३) जिसमें व्यक्ति का समाज के साथ पूर्ण सम्बन्ध हो ।

आदर्श की आवश्यकता

इसके लिये उन्हें एक आदर्श व्यक्ति तथा आदर्श समाज का चित्र समाज के सामने उपस्थित करने की जरूरत जान पड़ी । इसी व्यक्तित्व के आधार पर उन्होंने लोक धर्म की इमारत खड़ी की क्योंकि कोरे आदर्श का अनुगमन करने की अपेक्षा उस आदर्श के मूर्तिमान अवतार की भक्ति करना अधिक सुलभ है । जिस आदर्श का अनुकरण उन्होंने समाज को कराना चाहा उसे व्यक्तियों द्वारा मूर्तिमान कर बतला दिया ।

व्यक्तित्व की पूर्णता

भक्ति मार्ग ने पूर्ण व्यक्तित्व की आवश्यकता पूर्ण की । निर्गुण रूप में हम केवल ईश्वरीय शक्ति देखते थे, सगुण में हम शक्ति के साथ शील का भी आभास पाते हैं; और साकार रूप

में हम शक्ति शील और सौन्दर्य युक्त श्याम सुन्दर की मंजुल मूर्ति के दर्शन पाते हैं। उनका यह सौन्दर्य हम पर पिछले दो गुणों (शक्ति और शील) से अधिक प्रभाव डालता है। हम पहले बाहरी सुन्दरता पर ही मुग्ध होते हैं। फिर हम शक्ति के प्रति सिर झुकाते हैं और तब शक्ति की महानता पर रीझते हैं। इस प्रकार यह शक्ति-सौन्दर्य-शील-युक्त मूर्ति भक्ति की आलंवन बन जाती है।

लोक शिक्षा के लिये तुलसीदास को सब से उत्तम आधार मिल जाता है। आदर्श, व्यक्ति के रूप में विकसित होने से सरस, जीवन-युक्त और सुन्दर बन जाता है। धर्म की व्याख्या के लिये हम राम चरित्र का आधार लेते हैं और सतीत्व का अर्थ समझने के लिये सीता जी के चरणों की ओर देखते हैं। सीता के जीवन में सतीत्व इतना कूट कूट कर भरा है कि दोनों अभेद रूप हो गये हैं और हम सतीत्व की उपासना न कर सतीत्व मूर्ति की उपासना करने लगते हैं।

मनुष्य का आदर्श

कहा जा चुका है कि रूखे धम की उपासना की अपेक्षा उस धर्म के मूर्तिमान अवतार की उपासना करना अधिक सरल है। हमारे समान-आकार, हमारे समान हृदय तथा हमारे समान परिस्थितियों में रहने वाला ही हमारा आदर्श और भक्ति का पात्र हो सकता है। आकार होना, हृदय होना अज्ञेय अज्ञात ब्रह्म जो हमसे बहुत दूर है, हमारे हृदयों को नहीं खींच सकता। कोमल हृदय युक्त आराध्य ही मानव का हृदयेश हो सकता है। निर्गुण इतना ऊँचा है कि हमारे लिये बिल्कुल बेकाम सा हो जाता है। ऐसा ईश्वर ज्ञानियों का आराध्य भले ही हो जाता है किन्तु संसारी जीवों का आदर्श नहीं बन सकता। जो ईश्वर हमसे दूर

पर मुग्ध होनेवालों के लिये उनका यही रूप काफी है । किसी भी हृदय रखनेवाले पर उनके अद्भुत शील का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । शरणागत-वत्सलता, दोनों पर दया, पतितों पर करुणा देखकर पापी से पापी हृदय भी द्रवित हो जाता है:—

बैरि बन्धु निसिचर अधम तजो न भरे कलंक ।
भूँठे अघ तिय परिहरी तुलसी सील ससंक ॥
प्रभु तरु नर कपि डार पर किये ते आयु समान ।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब न सील निधान ॥

(दोहावली)

जानत प्रीति रीति रघुराई ।

नाते सब हाते करि राखत राम सनेह-समाई ॥

नेह निवाहि देह तजि दसरथ कीरति अचत चलाई ।

ऐमहु पितु तैं अधिक गोध पर ममता गुन गरुआई ॥

तिय-विरही सुप्रीव सखा लखि प्रान प्रिया विसराई ।

रन पर्यो बंधु विभीषन ही को मोच हृदय अधिकारि ॥

घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जह पहुनाई ।

तब तँह कहि 'सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई' ॥

सहज सरूप कथा मुनि वरनत रहत सकुचि सिर नाई ।

केवट - मीत कहे सुख मानत, वानर - बंधु बड़ाई ॥

प्रेम कनौड़ो राम सो प्रभु त्रिभुवन तिहुँ काल न भाई ।

तेरो रिनोहौँ कहुँ कपोस सों ऐसी मानिहि को सेवकाई ॥

तुलसी राम सनेह सील लखि जो न भगति नर आई ।

तौ ताहि जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई ॥

(विनय)

ऐसा उदार चरित्र सुनकर भी जिसका हृदय नहीं रसीजता, उसके लिये गुसाईं जी ने कहा है:—

रहै न जल भरि पूरि, राम सुजस सुनि रावरो ।
तिन नयनन्ह मँह धूरि, भरि भरि मूठी मेलये ॥
(दोहा०)

धर्म-व्यक्ति

राम भक्ति को मूल मानकर उसीके विकसित रूप परिवार या सारे जगत् में प्रेम फैलाने के लिये ही दया आदि धर्मों को भी उन्होंने व्यक्ति की आत्मिक उन्नति के लिये आवश्यक बतलाया है। जिस जगत् में राम रमा हुआ है, उस जगत् के हित के लिये निष्काम कर्म करते रहने का आदर्श उन्होंने हमारे सामने रक्खा है तथा उन्हीं के अनुसार गृहस्थाश्रम में रहते हुए कर्म करते रहना भक्ति की साधना का अंग बतलाया है।

परिवार-धर्म

गृहस्थाश्रम का सुधारना तथा गृहस्थ धर्म का फिर से प्रचार करना ही तुलसीदास के लोक धर्म का प्रधान आधार है। स्वयं संन्यामी होते हुए भी उन्होंने गृहस्थ को ही मानस का आधार बनाया है। इस दृष्टि से वह गृहस्थ काव्य भी कहा जा सकता है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने वाल्मीकि रामायण को गृहस्थ काव्य कहा है। मानस के लिये भी यह लागू होता है।

व्यक्ति, परिवार, समाज

व्यक्ति का धर्म क्या होना चाहिये, इसका आदर्श रामचरित है। व्यक्ति का परिवार के प्रति क्या धर्म होना चाहिये, इसका आदर्श भी राम का समाज है। व्यक्तिगत जीवन में राम सब गुणों की राशि आदर्श व्यक्ति हैं। पारिवारिक जीवन में वे आदर्श पुत्र, भ्राता और पति हैं। सामाजिक जीवन में वे आदर्श प्रजा-रक्षक राजा हैं। राम में व्यक्ति धर्म और लोक धर्म दोनों का बड़ी खूबी के साथ सामंजस्य हुआ है।

व्यक्ति-धर्म बनाम लोक-धर्म

जो यम-नियम आदि केवल व्यक्तिगत उन्नति के लिये हैं, वे व्यक्तिगत साधन मात्र कहलाते हैं। किन्तु जिसमें समाज संघटन के मूल तत्व हों वही “धर्म” या लोक धर्म कहला सकता है। समाज-संघटन-मूलक सिद्धान्तों को ही “धर्म” नाम दिया गया है। व्यक्ति का धर्म उसके अन्तर्गत है। गोसाईंजी ने इस विशाल लोकधर्म पर व्यक्तिधर्म की प्रतिष्ठा की है।

कभी कभी व्यक्तिगत धर्म और लोकधर्म में विरोध हो जाता है। वहाँ पहले की अपेक्षा दूसरे को ही अधिक महत्व देना पड़ता है। अहिंसा, अक्रोध, क्षमा व्यक्तिगत दृष्टि से सर्वोच्च गुण हैं। किन्तु राष्ट्रीय दृष्टि से वे कभी कभी घातक सिद्ध हो सकते हैं। आतताइयों, देश के शत्रुओं से युद्ध न करने का अर्थ कभी कभी देश-हिंसा करना हो जाता है। अत्याचार पर बिना क्रोध प्रकट किये उत्साह का उदय नहीं हो सकता। इसी तरह “रिपु पर कृपा” करना दया में नहीं किन्तु “परम-कदराई” में गिना जाता है। यदि राम झूठी अहिंसा, अक्रोध तथा दया से काम लेते, तो राज्ञसों का बध न कर उन्हें घर ही में बैठे रहना पड़ता। व्यक्तिगत बातों में राम पूरे अहिंसक, शान्त और परम कारुणिक हैं। किन्तु उनको समाज की रक्षा के लिये कुछ समय के लिये क्रोध और कठोरता का प्रदर्शन करना पड़ता है। किन्तु इससे उनके नम्र स्वभाव में कुछ अन्तर नहीं पड़ता और न धर्म पालन में त्रुटि होती। इसी को लक्ष्य कर “दुर्गा सप्तशती” में देवी के स्वभाव में “चिन्तो कृपा” के साथ “समर निष्ठुरता” का सामंजस्य कराया गया है। समाज की रक्षा के लिये इन बातों को भी लोकधर्म के भीतर स्थान देना पड़ता है। कारण यह कि राम एक अकेले व्यक्ति नहीं, किन्तु समाज के नेता व रक्षक हैं।

राम चरित से बढ़कर उच्च और सर्वतोमुख चरित्र संसार में मिलना दुर्लभ है। अतः उनके चरित्र के आधार पर गोसाईंजी ने धर्म का आधार स्थापित कर मनुष्य-जीवन की सब समस्याओं को हल कर दिया है।

तुलसीदास का साधन-समन्वय

जीवन के साधनों के साथ उसके साधनों का भी तुलसीदास जी के समन्वय किया है। अपने समय के प्रचलित आत्मप्राप्ति के जितने मार्ग थे, उन सबको गोसाईंजी ने परखा और उनको या तो व्यर्थ पाया या कष्टदाय्य। नीचे लिखे पद में उन्होंने सबकी परीक्षा कर अंत में भक्ति ही को सर्वश्रेष्ठ निश्चित किया है :—

नाहिन आवत आन भरोसो ।

यहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम फलनि फरो सो ॥

तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचे करो सो ।

पाएहिं पै जानिबो करम-फल, भरि-भरि वेद परो सो ॥

आगम विधि, जप, जाग करत नर सरत न काज खरो सो ।

सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग वियोग भरो सो ॥

काम क्रोध, मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो ।

बिगरत मन सन्यास लेत जल नावत आम घरो सो ॥

बहु मत सुनि बहु पंथ पुरानिन जहाँ तहाँ भगरो सो ।

गुरु कह्यो राम भजन नीको मोहि लागत रामराज उगरो सो ॥

तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो ।

राम-नाम वोहित भवसागर, चाहैं तरन तरो सो ॥ (वि०)

इसमें गोसाईंजी ने तप, उपवास, दान, यज्ञ, योग, ज्ञान, वैराग्य आदि सब मार्गों के बीच पड़े हुए संसारी जनों की हालत

बताकर सबकी कठिनता बतलाकर भक्ति ही को सबमे सरल मार्ग बतलाया है । यहाँ तक कह दिया है :—

कर्म उपासन ज्ञान योग मत बहु साधन समुदाई ।

तुलसीदास भव रोग राम-रद प्रेम हीन नहिं जाई ॥

(विनय)

वे राम नाम रूपी अंक के बिना सब साधनों को शून्य के समान समझते हैं :—

राम नाम इक मन्त्र है, सब साधन है सून ।

अंक गये कुछ हाथ नहिं, अंक रहे दस गून ॥ (दो०)

उन्होंने भक्ति को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए, भिन्न-भिन्न मतान्तरों का सामंजस्य करने के लिये सबकी एक वाक्यता कर दी है । ज्ञान और भक्ति, निर्गुण और सगुण, कर्मकाण्ड और ज्ञान काण्ड, अद्वैत और बहुदेववाद, संन्यास और कर्मयोग, राम और कृष्ण भक्ति तथा शैव और वैष्णवों सभी का उन्होंने समन्वय कर दिया है । वे मतभेद बढ़ाते नहीं, वरन् सबकी एकता कराके सबके मूलभूत प्रेम-धर्म का उपदेश करने आये थे । जिस कौशल से उन्होंने सब भेदों में एकता स्थापित की, उससे उनकी प्रतिभा और कार्य-कुशलता का पता लगता है ।

सब मतों की एकता और आदर करते हुए भी वे अपने विशेष मत को नहीं छोड़ते । किसी की निन्दा न कर वे अपने प्रेम धर्म का समर्थन करते चले जाते हैं :—

कर्म उपासन ज्ञान योग सब, सत्य भूँठ कछु नाहीं ।

तुलसीदास हरि कृपा मिटे भ्रम यह भरोस मन माहीं ॥

×

×

×

×

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।

मोको ते' राम को नाम कल्प तरु कलि कल्याण करो ॥

करम उपासन ज्ञान वेद मत सो सब भाँति खरो ।
 मोहिं तो साबन के अंधे ज्यों सूझन रंग हरो ॥
 चाटत रह्यो स्वान पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भरो ।
 सो हौं सुमरित नाम सुधारस पेखत परसि धरो ॥
 स्वारथ औ परमारथ हू को नहि कुंजरो नरो ।
 सुनियत सेतु पयाधि पषाननि करि कपि कटक तरो ॥
 प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तह ताको काज सरो ।
 मेरे तो माय बाप दोऊ आखर हो सिसु अरनि अरो ॥

(विनय)

मतैक्य का मूल

यदि उन्होंने इस “हरे रंग” में शैव और वैष्णव आदि भिन्न मतवालों को एक न कर दिया होता, तो अभी तक शिव-कांची और विष्णु कांची के कंठी-रुद्राक्ष के झगड़ों का अन्त न होता । गुसाईंजी सबके साथ तो समझौता कर सकते थे; किन्तु ऐसे देवताओं के साथ कभी उनका मेल न मिलता था, जिनके पूजन से आचरण को कुछ भी शुद्ध नहीं होती । बल्कि वे लुद्र कामनायें पूर्ण करनेवाले भूत-प्रेतादि तथा अन्य लुद्र देवताओं को वे स्वार्थी समझते हैं और उनके पूजन को महापापों की संख्या में शुमार करते हैं ।

जे परिहरि हारहर चरन
 भजहि भूत गन घोर ।
 तिनकी गति सो ।हं देहु विधि
 जौ जननी मत मोर ॥

तुलसी-मत—प्रेम-धर्म

हम गुसाईंजी के धर्म को प्रेम धर्म कह सकते हैं । भक्ति

मार्ग कहने से सभी भक्ति पंथों का बोध होता है, इसलिये हम उनके भक्ति मार्ग को उन सबसे अलग करने के लिये तुलसी मत या प्रेम धर्म कहना अधिक पसन्द करते हैं। इसी विशेष धर्म के प्रचार के लिये उनका अवतार हुआ था। उनके जीवन को हम प्रेम रूप और उनके ग्रंथों को प्रेम की व्याख्या कहें तो अनुचित न होगा। जितनी प्रेम की पराकाष्ठा, भक्ति-तल्लीनता, तथा प्रीति-प्रतीति इस महात्मा में पाई जाती है, उतनी दूसरे में मिलना दुर्लभ है ! उनकी रचना प्रेम का विकास है; उनके पात्र प्रेम रू हैं। बिना प्रेम की अनन्यता हुए ऐसे उद्गार किसके मुख के निकल सकते हैं :—

एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास ।
 एक राम धनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥
 हिय फटहु फूटहु नयन जरहु सो तन किहि काम ।
 द्रवहिं खवहिं पुलकहि नहीं तुलसी सुमरित राम ॥
 आपु आपने ते अधिक जेहि प्रिय सीताराम ।
 तेहि के पग की पानहीं, मेरे तनु को चाम ॥
 जरहु सो सम्पति सदन सुख सहृद मातु पितु भाय ।
 सन्मुख होत जो राम पद करें न सहज सहाय ॥
 स्रवै न सलिल सनेह, तुलसी सुमरतराम यस ।
 ते नयना जनि देहु, राम करहु बरु आंधरो ॥ (दो०)

×

×

×

श्रवण कथा सुख नाम हृदय हरि,
 सिर प्रनाम सेवा करि अनुसरु ।
 नयनन निराख कृपा समुद्र हरि,
 अग जग रूप भूप भीता बरु ॥ (विनय)

×

×

×

“राम हैं मातु पिता गुरु बंधु
औ संगी मखा सुत स्वामि सनेही ।
राम की सौह भरोसो है राम को,
राम रंग्यो रुचि राच्यो न बेही ॥
जीवत राम, मुये पुनि राम,
सदा रघुनाथहि की गति जेही ।
सोई जियै जग में तुलसी,
नतु डोलत और मुये धरि देही ॥”

× × ×

“सिय राम-स्वरूप अगाध अनूप,
विलोचन मीनन को जलु है ।”

श्रुति राम कथा, मुख राम को नाम,
हिये पुनि रामहि को थलु है ॥

मति रामहि सों, गति रामहि सों, ।

रति रामहि, रामहि को बलु है ।

सबकी न कहै, तुलसी के मते,

इतनो जग जीवन को फलु है ॥ (कविता०)

इसी प्रेम-तल्लोनता के कारण उन्होंने चातक मीन आदि
क्षुद्र जीवों तक की प्रशंसा में अनेकों पद्य कहे हैं तथा उन्हीं की
अनन्यता को अपना आदर्श माना है :—

पवि पाहन दामिनि गरज झर झकोर खर खीझ ।

रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी प्रेमहि गीझ ॥ (दो०)

इसी प्रेम को वे अपने लिये मांगते हैं ।

गुसाईं जी प्रेम को नेम से श्रेष्ठ समझते हैं । बाहरी दिखावा या
नेम की परवाह न कर वे प्रेम की सरसता को पसन्द करते हैं:—

बड़ी प्रतीति गठि बंध तें बड़ो जोग तें जेम ।

बड़ो सुमेवक साईं तें, बड़ो नेम तें प्रेम ॥ (दो०)

प्रेम का विस्तार

उनके प्रेम की परधि किसी संकुचित सीमा में सीमित नहीं है, किन्तु लुद्र से लुद्र जीव से लगाकर उच्च से उच्च तक फैला है। इसका विस्तार परिवार से लेकर जाति, देश आदि की सीमाओं को पारकर सारे विश्व तक फैला हुआ है। इसमें जाति पाँति या ऊँच-नीच का भेद नहीं है। इन ऊपरी बातों पर ध्यान न देकर वे अंतस्तल तक प्रवेश कर जाते हैं। प्रेम चाहे जिस हृदय में हो, वे उसका आदर करते हैं; उसकी देह के छूत अछूत होने का वे विचार नहीं करते हैं, बल्कि उसके हृदय की पूजा करते हैं। निषाद या चांडाल को भी वे प्रेम के नाते हृदय लगाते हैं। प्रेम को वे जीवन का रस समझते हैं और उसके बिना वे सबको अलोना बतलाते हैं—

कीरति कूल करतूति भूति भल शील सुभाव सलोने ।

तुलसी प्रभु अनुराग रहित, जस सालन साग अलोने ॥ (वि०)

प्रेम के नाते को वे सब संसारी नातों से बढ़कर मानते हैं—

तुलसी सो सब भाँति परम हित सुहृद प्राण ते प्यारो ।

जातें होय सनेह राम पद येतो मतो हमारो ॥

नाते नेह राम तें मनियत सुहृद सुसेव्य जहां लों ।

अंजन कहा आंख जेहि फूटे बहुतक कहीं कहां लों ॥ (वि०)

प्रेम की उच्चता

प्रेम को जिस उच्चता पर गुसाईं ने पहुँचा दिया है, वहां तक अन्य बहुत कम कवि पहुँचा पाये हैं। प्रेम को इन्होंने इतना पवित्र कर दिया है कि उसमें स्वार्थादि लुद्र सांसारिक बातों की गंध तक नहीं रह आती। प्रेम ही धर्म रूप हो जाता है, प्रेम ही सब धर्मों में श्रेष्ठ हो जाता है। सीता, भरत और राम आदि के

चरित्रों को इतना स्वर्गीय प्रेम से भर दिया है कि उनके चरित्र धार्मिक आदर्श बन जाते हैं। उनका धर्म प्रेम ही से उत्पन्न होता है। विशुद्ध प्रेम का रूपान्तर ही धर्म है। सांसारिक संबंधों, पारिवारिक बंधनों में भी उन्होंने इस पवित्र प्रेम की झलक दिखाई है। वे सब संबंध बंधन नहीं; किन्तु विश्व प्रेम के साधन बन जाते हैं। इसी प्रेम के आधार पर उन्होंने परिवार तथा समाज-संगठन की इमारत उठाई है तथा लोकधर्म की प्रतिष्ठा की है। इसी प्रेम में समाज की सब ऊँच नीच जातियाँ तथा उसके प्रत्येक अंग एक हो जाते हैं।

प्रेम-समन्वय

उन्होंने सब प्रकार के प्रेमों की एकता बतलाई है; क्योंकि उन्होंने प्रेम के मूल स्रोत का अनुभव कर लिया था और भिन्न-भिन्न प्रेमों को उसी की छोटी धाराएँ समझ लिया था। इसलिये उनका पारिवारिक प्रेम ईश्वर प्रेम का बाधक नहीं है और न संसार-प्रेम राम-प्रेम का बाधक है। राम-प्रेम को ही उन्होंने सब का मूल जानकर उन्हीं के नाते वे संसार के नाते मानते थे :—
जँह लगि तात नेह अरु नाते । मानिय सबहि राम के नाते ।—(मा०)

×

×

×

नाते नेह लगाये करि सब नाते नेह विवाहहौ—(मि०)

जहाँ ये नाते राम-प्रेम के बाधक होते हैं, वहाँ सबके त्याग का भी उन्होंने अपने आचरण से उपदेश किया :—

जाके प्रिय न राम वैदेही

सो त्यागिये कौटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही ।—(वि०)

प्रेमों की एकता समझकर उसे वे राम चरण में केन्द्रित करते हैं तथा उसके वृत्त की परिधि में सारे जगत् को आलिंगन कर

लेते हैं। डोरियाँ चाहे कितनी भी रहें, पर उन सबको रामचरण के खूँटे में बाँध देना चाहिये :—

“सबकी ममता ताग बटोरी। ममरद मनहिं बांधु बटि डोरी।”

प्रेमधर्म पर लोकधर्म की स्थापना

इस प्रेमधर्म के आधार पर गुसाईंजी ने जिस लोकधर्म की प्रतिष्ठा की, उसी में व्यक्ति की पूरी उन्नति के साधन और परिवार तथा समाज के प्रत्येक अंग के परस्पर संघटन के साधन मिल सकते हैं।

किन्तु प्रेम-प्रीतिहीन अन्य साधनों से न तो आत्मा की उन्नति हो सकती है और न समाज का सामंजस्य ठीक रह सकता है।

इसी प्रेमधर्म को गुसाईंजी ने ज्ञान, विराग, कर्म आदि सबसे श्रेष्ठ बताया है। वैसे तो वे ज्ञान तथा भक्ति, कर्म तथा संन्यास सबके सामञ्जस्यकर्त्ता हैं, किन्तु इन सब साधनों में वे प्रेम की जीविनी-शक्ति डालना चाहते हैं। प्रेम को इन सबका मूल मानकर ही वे इन सबका सामंजस्य करते हैं।

यदि यह प्रेम सबमें जाग्रत है, तो फिर वे बाहरी साधनों की परवाह नहीं करते; किन्तु प्रेमहीन साधनों को बिलकुल व्यर्थ समझते हैं। इसलिये कहा है :—

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञान (मानस)

तुलसीदास भव रोग राम पद प्रेमहीन नहिं जाई (वि०)

तुलसी के कार्य का फल

इसका फल यह हुआ कि भारतीय सभ्यता की रक्षा हो गई। वेद-शास्त्र डूबने से बच गये। संस्कृत साहित्य तथा भाषा साहित्य दोनों का प्रचार हुआ। समाज एक सूत्र में बँध गया।

उसके सांप्रदायिक झगड़े मिट गये । जाति-पांति की कड़ाई कम हो गई । समाज के प्रत्येक अंग में प्रेम बढ़ा । बड़ों का आदर तथा छोटों पर प्रेम फैल गया । धर्म की मर्यादा स्थापित हुई । सबको अपने अपने वर्ण में रहकर भी धर्म-साधना में पूरा अधिकार मिल गया । इस प्रेमधर्म की दृष्टि में सब स्त्री पुरुष, नीच ऊँच को बराबर स्थान मिला । आश्रमों की मर्यादा फिर कायम हुई । भूठे संन्यासियों की पोल खुली । त्याग के सच्चे तत्व फैले । गृहस्थ धर्म का महत्व कायम हुआ । धर्म का असली तत्व सरलता से लोगों को मिल गया । धर्म और नीति में संबंध स्थापित होने से जनता के आचरण सुधरे । राजनीति का आश्रय धर्म को बना देने से परार्धन भारत को फिर से आशा बंधी और उससे छुटकारा पाने के लिये वे संसारी राजाओं की ओर न देख, राम राज्य का स्वप्न देखने लगे । जन-समाज में फैली हुई उदासीनता घटी । अत्याचार के अन्त होने का उन्हें विश्वास हो गया ।



गोस्वामीजी का साध्य समन्वय

व्यक्तिगत साध्य—चतुर्वर्ग

मनुष्य की सबसे पहली आवश्यकता भोजन, वस्त्र तथा आश्रय संबंधी है जो कि 'अर्थ' या "वित्तेषणा" से अच्छी तरह व्यक्त होती है। किंतु यह तो पशुओं के लिये भी लागू है। मनुष्य पशु से इसीलिये ऊँचा है कि वह केवल अर्थ ही से संतुष्ट नहीं हो जाता, वरन् अपनी मानसिक कामनाओं की तृप्ति के साधन ढूँढ़ता है और अत्मिक आनन्द की ओर बढ़ता है।

भोजन, वस्त्र तथा आश्रय की पूर्ति हो जाने पर उसे जाति रक्षा (Preservation of the species) की कामना होती है और इससे यौन भावना (Sex instinct) उत्पन्न होती है। किन्तु यह भावना किसी न किसी रूप में पशुओं में भी रहती है। मनुष्य में यह भावना और भी विकसित होती है। पशुओं में जो भावना अनियंत्रित स्वेच्छाचार के रूप में पायी जाती है, वही मनुष्य में पारिवारिक सदाचार का रूप धारण कर लेती है। इसे हमारे यहाँ 'पुत्रेषणा' कहा गया है।

इसके बाद परिवार बढ़ने पर जातियों और समाजों का उदय होता है और उनकी सुव्यवस्था के लिये नियमों की सृष्टि होती है। यही नियम 'धर्म' के मूल रूप हैं। समाज में अच्छा समझे जाने या समाज द्वारा निर्धारित नियमों पर चलने की इच्छा होती है। इसी को सामाजिक भावना (social instinct) कहा जाता है। अब इन कामनाओं की पूर्ति के लिये मनुष्य किसी ऐसी शक्ति को खोजता है, जो उसकी आर्थिक आवश्यकताओं का नियंत्रण करे, उसकी मानसिक कामनाओं की पूर्ति करे और सामाजिक धर्मों को सञ्चालित करे। पहले वह आर्थिक लाभ फिर कामना पूर्ति तथा फिर लोकरक्षण के लिये उसी शक्ति से सहायता की प्रार्थना करता है।

एक समय ऐसा आता है जब वह आर्थिक वस्तुओं की नश्वरता तथा कामनाओं की अतृप्ति का अनुभव करता है। उनके नियंत्रण के लिये नियम बनाये सही गये; किंतु उसके पालन में अर्थलोलुपता तथा कामलिप्सा बाधक होती है। जब तक उनका नियंत्रण न किया जावे, धर्मों का पालन नहीं हो सकता। सामाजिक शान्ति के लिये "भागृधः कस्यस्विद्धनम्" कह देना काफी नहीं है—उसका कारण तथा आधार भी बतलाना होगा। "पराया माल अपना" क्यों न करें; इसके लिये कोई युक्त युक्त कारण तो होना चाहिये। इसलिये ब्रह्मवादियों ने सामने आकर कहा—“चोरी इसलिये मत करो क्योंकि अपने और पराये दोनों में वही एक तत्त्व विद्यमान है और तह तत्त्व ईश्वर है जो सबमें व्याप्त है—

“ईशवास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्”

इसलिये लोभ से नहीं, किन्तु त्याग से जीवन व्यतीत करो और किसी की वस्तु का लोभ मत करो:—

‘तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मागृधः कस्वस्विद्वनम्’

इसी से मोक्ष धर्म या ब्रह्मवाद का प्रचार हुआ और अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का चतुष्टय पूरा हुआ। गोस्वामीजी ने भी अर्थ और काम को उचित स्थान दिया है; किन्तु उन्हें धर्म और मोक्ष के शासन में रक्खा है। अतः उन्हीं की विशेष चर्चा करना उनका मुख्य उद्देश्य बन गया। मनुष्य की आत्मा अर्थ और काम के बन्धनों से मुक्ति की इच्छा से एक आधार खोजती है। उसका सहज प्रश्न होता है—मैं कौन हूँ—कोऽहम् ? इस विश्व में मेरा क्या स्थान है, इसका नियन्ता कौन है, और यह बन्धन में डालनेवाली अर्थ और काम की प्रेरणाएँ कहां से आती हैं ? इसी को हमारे शास्त्रों ने ब्रह्म जिज्ञासा कहा है। ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र भी यही हैः—

“अथातो ब्रह्म जिज्ञासा”

इसी के उत्तर में उपनिषदों का तत्त्वज्ञान है, जिसे बादरायण ने समास रूप से सूत्रबद्ध किया है और जिसे शंकराचार्य ने व्यास रूप से अपने भाष्य में विस्तार किया। इसी गीता, भागवत योगवशिष्ठ तथा सन्तों आदि की परम्परा का अनुसरण करते हुए तुलसीदासजी ने ‘ब्रह्मनिरूपण’ किया है। इसीके अन्तर्गत एकेश्वरवाद और बहुदेववाद का मतभेद चल पड़ा, जिसने आगे चलकर शैव और वैष्णव विवाद का उग्र रूप धारण कर लिया। इसका समन्वय भी तुलसीदासजी ने बड़ी सुंदरता से किया। इसी के साथ इस विषय में भी मतभेद खड़ा हो गया कि ईश्वर सगुण या है निगुण। इसका समन्वय भी गोस्वामीजी ने बड़े अच्छे ढंग से किया। साथ ही पुरुष और प्रकृति—ब्रह्म तथा माया में क्या संबंध है इसके आधार पर विवर्त्तवाद, मायावाद आदि बहुत से वाद चल पड़े। कोई माया को सत्य

तथा कोई मिथ्या मानते हैं। कोई ब्रह्म को जगत्कर्त्ता तथा कोई प्रकृति को प्रधान मानते हैं। शंकर ने इसी मत का खण्डन कर ब्रह्म को सत्य तथा मायाको मिथ्या सिद्ध करने के लिये अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य लिखे। उसके बाद भी रामानुज ने अपने “श्रीभाष्य” में माया जीव तथा ब्रह्म का पृथक्त्व सत्यसत्ता तथा प्रतिपादन की। तुलसीदास ने दोनों मतों के समन्वय पर अपना मत स्थापित किया।

ब्रह्म या प्रकृति के द्वारा जगत् की रचना होने पर भी तत्त्वों का विभाग या गुणों की गणना (संख्या) का विवेचन शुरू होता है, जिससे भिन्न-भिन्न दर्शनों की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म और जीव को एक अथवा भिन्न मानने ही के कारण अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि अनेकों मतमतान्तर चल पड़े। इनका समन्वय भी गोस्वामीजी के मानस में हमें मिलता है।

ब्रह्म और जीव के एकत्व अथवा पृथक्त्व ही के आधार पर उसकी प्राप्ति या जीव की मुक्ति के लिये ज्ञान और भक्ति के साधन चल पड़े। ब्रह्म जीव की एकता के प्रतिपादक होने के कारण गोस्वामीजी ने इन मार्गों का भी समन्वय किया।

व्यक्ति और समाज

ये साधन तो व्यक्तिगत मोक्ष के हुए। सामाजिक मोक्ष तो परिवार या समाज के प्रति कर्त्तव्य - पालन ही से हो सकता है। यदि सब लोग व्यक्तिगत मोक्ष साधन में लग जावें तो फिर समाज का काम कौन चलावेगा ? इसी लिये हमारे पूर्वजों ने वर्णाश्रम का विभाजन किया जिससे सब वर्ण और आश्रम अपने - अपने कर्मों में निरत रहकर सामाजिक कल्याण भी करें और आत्म-कल्याण भी। वैश्य और शूद्र को आर्थिक व्यवस्था संभालने, क्षत्रिय पर समाज-रक्षा का भार उठाने तथा

ब्राह्मण को सब वर्गों के आत्मकल्याण की दिशा निर्देश करने का काम सौंपा गया। इसी प्रकार आश्रमों में ब्रह्मचर्य जीवन का भार उठाने की तैयारी तथा गृहस्थाश्रम, पारिवारिक तथा सामाजिक कर्त्तव्य पूर्ति के लिये रक्खा गया। इसके बाद मोक्ष की तैयारी करने के लिये वानप्रस्थ और उसकी प्राप्ति के लिये विरक्त होकर संन्यास ग्रहण की व्यवस्था की गई। तुलसीदासजी वर्णाश्रम धर्म के प्रबल समर्थक थे।

निष्कामकर्म द्वारा सामाजिक कल्याण या मोक्ष को साधन करना अथवा प्रारंभ ही से संन्यास लेकर आत्मकल्याण या साधन करना इन दो मार्गों को विवाद से दूर करने ही के लिये गीता का उदय हुआ था। तो भी विवाद बहुत काल तक चलता रहा। किसी ने कहा, ज्ञान और कर्म का समन्वय हो सकता है, किसी ने कहा कि नहीं हो सकता। आचार्य-शंकर के “गीता भाष्य” में दूसरे मत का ही प्रतिपादन है और लो० तिलक के “गीता रहस्य” में प्रथम मत का समर्थन है। शङ्कर ने कहा कि ज्ञान उत्पन्न न होने तक ही कर्म किया जा सकता है। तिलक ने कहा कि ज्ञान उत्पन्न होने पर भी लोकहित के लिये कर्म करते रहना चाहिये। तुलसीदास ने भी कहा कि ज्ञान होने पर भी भक्ति और लोकहितकारी कर्म नहीं छोड़ना चाहिये। ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों में गोस्वामीजी ने भक्ति ही को श्रेष्ठता दी और उसी में “श्रुतिसम्मत हरि भगति पथ” को मनुष्य का परम पुरुषार्थ माना और उसी में सब मार्गों का समन्वय किया। ईश्वर को सर्वगत समझ उसकी अनन्य भक्ति में वैराग्य और विवेक का योग करके भक्ति को ही ज्ञान के उच्च स्थान पर पहुँचा दिया और ईश्वरार्पण बुद्धि से लोकहित के लिये कर्म करने का प्रतिपादन कर उसे निष्काम कर्म को महत्ता प्रदान कर दी:

श्रुति सम्मत हरि भगति पथ संयुत विरति विवेक।

इस प्रकार उनमें ब्रह्म निरूपण और भक्ति निरूपण दोनों एकाकार हो जाते हैं। भक्ति के उद्यान में नीति का बितान छा जाने से वह सचमुच लोकोपकारी हो गया है। इस मार्ग में यम-नियम आदि साधनों की भी आवश्यकता है; किन्तु वे केवल फूल के समान हैं—उनका फल ज्ञान ही है। किन्तु यह भी अन्तिम साध्य नहीं—उस ज्ञान फल का भीतरी रस तो सरस भक्ति ही है :—

भगति निरूपन विविध विधाना ।

छमा दया दम लता बिताना ॥

सम यम नियम फूल फल ज्ञाना ।

हरिपद रति रस वेद वखाना ॥

इस चरम साध्य भक्ति की प्राप्ति के लिये उन्होंने अपने चार मुख्य विषयों का प्राचीन साहित्य के आधार पर विवेचन किया। उपनिषदों के ब्रह्म निरूपण, स्मृतियों के धर्म-विधि, दर्शन शास्त्रों से तत्त्वविभाग तथा पुराणों और रामायणों से भगवत कथा प्रदूषण कर सबका सामंजस्य अपने ग्रंथ में बड़ी सुन्दरता से किया। ज्ञान और वैराग्य के मूल सिद्धान्त हैं तो सभी में समान हैं।

अपना प्रतिपाद्य विषय गोस्वामीजी ने एक ही दांहे में स्पष्ट करा है :—

ब्रह्मनिरूपन धरम बिधि

वरनहिं तत्व - विभाग ।

कहहिं कथा भगवंत की

संजुत ज्ञान बिराग ॥

भारतीय ऋषियों ने मनुष्य जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं पर ध्यान रखके उसकी सर्वांगीण उन्नति के लिये जो व्यवस्था बतलाई है उसी को 'चतुर्वर्ग फल प्राप्ति' के नाम से अभि-

हित किया है । (१) बिना इसके मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त नहीं होता । इसी कारण इस चतुर्वर्ग को परम पुरुषार्थ कहा गया है । (२)

इन चारों के समन्वय ही का प्रतिपादन महाभारत ने किया । (३) और इनमें अविरोध से सभी का समयानुसार सेवन करने का आदर्श कौटिल्य तथा कालिदास आदि ने रक्खा । (४)

गीता ने मनुष्य की चार आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उसके चतुर्मुख व्यक्तित्व के विकास के क्रम का जो वर्णन किया है उसमें इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा की क्रमिक परम्परा बतला कर उनके उत्तरोत्तर विकास का आदर्श हमारे सामने रक्खा है । (५)

वेदान्त के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों के द्वारा भी यही बात प्रतिपादित की गई है ।

शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा ये ही चार मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रधान अंग हैं । इन्हीं की पूर्णता के लिये अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष की व्यवस्था की गई है । सबसे पहले मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताएँ पूर्ण होनी चाहिये । उसके बाद उसे

(१) चतुर्वर्ग फल प्राप्तिः

(२) एष परम पुरुषार्थः

(३) परित्यजेदर्थकामो यो ह्यातां धर्मवर्जितौ धर्मं चाप्यसुखोदकं
लोकविद्रुष्टमेव वा ॥—महा०

(४) समं वा त्रिवर्गमन्योन्यनुबन्धम् (अर्थशास्त्र)

(५) इन्द्रियाणि पराण्याहः इन्द्रियेभ्यः परं मनः,

मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः

—गीता०

मनोविकास के लिये साहित्य, संगीत आदि कलाओं की आवश्यकता होती है। पशुओं की दो प्रवृत्तियां जुधा निवारण तथा उसके बाद पुत्रोत्पादन मनुष्य में भी पाई जाती हैं। (६)

किन्तु पशु जीवन से वह इसीलिये भिन्न है कि उसमें इससे ऊँची मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक शक्तियां प्राप्त करना संभव है। इसी कारण साहित्य, संगीत और कला-आदि मानसिक शक्तियों से रहित मनुष्य को साक्षात् पशु की संज्ञा दी गई है। (७)

उसी प्रकार बौद्धिक तथा आत्मिक शक्तियों के विकास के बिना उसे मनुष्य जीवन की साथकता नहीं मिली।

सभ्यता के आदि काल में मनुष्य अर्थ - प्राप्ति के लिये शिकार, पशु-पालन और कृषि-आदि आर्थिक उद्योग करता है। अर्थ तथा काम की पूर्ति के लिये स्त्री पुरुष संबध प्रारंभ होता है और परिवार, जाति तथा समाज की रचना होती है। मनुष्य का व्यक्तित्व उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है और वह सामाजिक प्राणी बन जाता है। जुद्ध स्वाथ के ऊपर उठकर वह परिवार, समाज और देश की परिधि पार करता हुआ सारे विश्व को अपनाता है, समाज से संपर्क में आते ही उसमें धर्म भावना (सामाजिक कर्तव्य) का विकास होने लगता है और उसके प्रति अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों को समझने लगता है। इस के साथ ही, मनुष्य की आत्मा मुक्ति की इच्छा करती है। उसे अनुभव हो जाता है कि केवल धन सम्पत्ति ही उसे तृप्त नहीं कर सकती। नचिकेता कह उठता है :—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो ।” (कठोपनिषद्)

(६) आहार निद्रा भय मैथुनं च सामन्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्

—मर्तृहरि

(७) साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविशाणहीनः ।

और काम भोग से ऊबकर ययाति पुकार उठता है :—

“न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति (महा०)

उसे यह भी अनुभव होने लगता है कि समाज का अंग होने के साथ ही मनुष्य की आत्मा का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी है और उसकी बंधन मुक्ति होना परमावश्यक है। मोक्ष तथा निर्वाण से ही उसे बन्धन मुक्ति होकर शान्ति प्राप्त होती है।

इसी कारण ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी पूछ उठती है—

“येनाऽहं नाऽमृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्”

केवल कामना ही से नहीं, किंतु उसे सभी कर्म धर्मों से निर्बेद हो जाता है :—

“परीक्ष्य लोकान् कमे चित्रान्

ब्राह्मणो निर्वेतुमायात् नास्त्यकृतः कृतेन ।

इन्हीं चार आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य देवों की उपासना का आश्रय लेता है। आर्थिक सुख सम्पत्ति के लिये देवों की प्रार्थना तथा कामनाओं की पूर्ति के लिये यज्ञ याग आदि की आयोजना की गई। परिवार तथा समाज की रक्षा के लिये सगुण ईश्वर, नारायण आदि रूपों की उद्भावना हुई। अन्त में मोक्ष प्राप्त के लिये ब्रह्म की उपासना की व्यवस्था की गई। इन्हीं के लिये कर्म, उपासना तथा ज्ञान के तीन भागों का प्रचार हुआ। साथ ही अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र, तथा मोक्ष-शास्त्र की रचना भी हुई।

वर्णाश्रम धर्म का भी मनुष्य की इन मूल प्रवृत्तियों से घनिष्ठ संबंध है। अधिक उद्योग तथा काम पूर्ति के लिये शूद्र, वैश्य, सामाजिक रक्षा के लिये क्षत्रिय तथा आत्मिक मुक्ति के लिये ब्राह्मणों का श्रेणी-विभाजन किया गया। आश्रमों की व्यवस्था भी सार्थक है।

अपने समय को आर्थिक, काम संबंधी, धार्मिक तथा मोक्ष की दुदशा का वर्णन कर तुलसी ने राम राज्य के रूप में चारों की आदर्श व्यवस्था का चित्र खींचा है। आर्थिक आवश्यकतों को पूर्ति वे सबसे पहिले आवश्यक माना है क्योंकि वे अनुभव करते थे कि जब तक बड़बाग्न से भी प्रबल जठराग्नि (८) को तृप्त न किया जावेगा तब तक कोई भी सुधार संभव नहीं। राम राज्य की स्थापना होते ही आर्थिक दुरवस्था दूर हो जाती है (६) उनका महा मंत्र दारिद्र्य की-अग्नि के लिये मानों महामेघ ही है (१०)

मनुष्य हृदय में रहने वाली तीन कामनाओं या ईषणाओं की चर्चा भी गोसाईं जी ने की है। (११)

कामनाओं की पूर्ति असंभव मानते हुये भी (१२) उन्होंने मानस में उसकी भी पूर्ति बतलाई है। (१३)

धर्म के लिये तो उन्होंने व्यक्ति परिवार समाज देश तथा विश्व के लिये जैसी धर्म व्यवस्था की है वह आद्वितीय है। उसके निर्दिष्ट मत की उपासना से सब धर्म सुलभ हो जाते हैं।

(८) तुलसी बड़बागितैं बड़ो है आगि पेट को । कवितावली)

(६) नहि दग्नि कोउ दुखी न दीना (मानस उत्तर०)

(१०) कामद घन दारिद्र्य दवारि के (मानस० बाल०)

(११) सुत बित नारि ईषनातीनी । किम की मति इन कृत न मानी ॥

(१२) बुझै न काम अग्नि तुलसी कहूँ विषय भोग बहु धीते !
(विनय)

(१३) राम नाम कलि अभिमत दाता ।

“अभिमत दानि देव तरु वर से।” (मानस)

(१४) संसारी जीवों का बंधन मुक्त करने का सर्व सुलभ सरल उपाय बतलाता तो मानों उनका जीवनोद्देश्य ही था। उनके आदर्श में चतुर्वर्गों को एक साथ पूर्ति तथा समन्वय सा हो गया है:—

जग मंगल गुन ग्राम राम के । दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥

इस चतुर्वर्ग में परस्पर संघर्ष दूर करने के लिये वर्णाश्रमों के सद्भाव और उनकी मर्यादित व्यवस्था ही एक मात्र उपाय है यह गोस्वामी जी मानते थे और इसी कारण उन्होंने अपने अपने धर्मों में स्थित वर्णों के द्वारा सामाजिक सुख शान्ति की स्थापना की है।

“वर्णाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग ।

चलहि सदा पावहि सुखहि नहि भय सोक न रोग ॥”

इससे विपरीत आचरण करने वाले वर्णों और आश्रमों का निन्दा करने में उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी :—

सोचिय गृही जो मोह बस करे कर्म-पथ त्याग ।

सोचिय ग्रही प्रपंचरत, विगत विवेक विराग ॥

सोचिय बिप्र जो वेद बिहीना ।

तजि निज धर्म विषय लव लीना ॥ इत्यादि — गोस्वामी जी ने समाज की रक्षा के लिये चारों वर्णों में क्षत्रिय तथा आश्रमों में गृहस्थ को विशेष महत्त्व दिया तथा उन्हीं के आदर्श को उपस्थित किया। उनके चरित नायक आदर्श क्षत्रिय तथा आदर्श गृहस्थ हैं।—

चतुर्वर्ग की प्राप्ति के इच्छुक चार प्रकार के भक्तों की चर्चा भी गोस्वामी जी ने की है:—

“राम भगत जग चार प्रकारा । सुकृती चारहु अनघउ दारा ॥

(अर्थार्थी अर्थ का इच्छुक) आर्त्त (सकाम भक्त) जिज्ञासु (धर्म का जिज्ञासु) तथा ज्ञानी (मुक्ति प्राप्ति का इच्छुक) भक्त ही हैं (१५) ये भक्त राम नाम ही से इच्छित फल भी प्राप्त करते हैं : “जपहि नाम जन आरत भारी ।” आदि

गोसाईं जी के मार्ग में मुक्त और अनुरक्त, विषई या विरक्त, सकाम या अकाम सभी के लिये सुख सम्पत्ति स्वर्ग अथवा मुक्ति सुलभ है:—

पढ़हि विमुक्त विरत अरु विषई ।

लहहि मुक्ति गति सम्पत्ति नितई ॥

मनुष्य की इंद्रियाँ, मन, बुद्धि तथा आत्मा को तृप्ति करने का उपाय भी गोस्वामी जी ने एक ही रखा है। राम के सौंदर्य से उसकी चक्षु आदि इंद्रियाँ तृप्त होती हैं, राम के प्रेम से उसका मन पवित्र होता है। राम के ज्ञान से उसकी बुद्धि विकसित होती है, तथा उसकी सेवा से उसकी आत्मा कृतार्थ हो जाती है।

गोसाईं जी ने मनुष्य की चारों प्रधान प्रवृत्तियों का अनुभव कर उनकी पूर्ति के लिये एक ही उपाय बता कर उन सब का सामंन्वय कर दिया है। आर्थिक आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये अर्थ या सम्पत्ति की तथा अपनी महत्वाकांक्षा की तृप्ति के लिये कीर्ति की आवश्यकता है। धर्म प्राप्ति के लिये उसे बुद्धि या मति की जरूरत है और अन्त में आत्म प्राप्ति के लिये मुक्ति आवश्यक होती है। गोसाईं जी ने इनका उल्लेख “मति कीरत्ति गति भूति” शब्दों से किया है:—

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

(१५) चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्त्तो जिज्ञा-
सुरथार्थी ज्ञानी च भारतवर्षभ—गीता ॥

मति कीरति गति भूति भलाई ।

जो चाहहु आपन कल्याना । सुमति सुजस सुभ गति सुख नाना॥
इन चारों का सामंजस्य उन्होंने “कल्याण” शब्द में कर दिया है ।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने चतुर्वर्ग की आवश्यकता समझ कर ही उन्हें मानस में उचित स्थान दिया है :—

अर्थ धर्म कामादिक चारी । कहब ज्ञान निसंग बिचारी ॥

इन चारों की प्राप्ति राम भक्ति ही द्वारा हो सकती है । यही गोसाईं जी का मत था । सबसे पहले हम भूति या अर्थ को लेंगे । सांसारिक उन्नति के लिए इसे प्राप्त करना आवश्यक है किन्तु धर्म पालन के द्वारा यह आप ही आप चला आता है—उसके प्राप्ति का श्रम ही नहीं करना पड़ता —

सुख सम्पति तिमि बितहिं बोलाए ।

धर्म सील पहुँ जोहिं सुभाए ॥

इसीलिए जहाँ भक्ति तथा सम्पत्ति का विरोध होता है वहाँ गोसाईं जी ने उसे त्याज्य माना है :—

जरौ सो सम्पति सदन सुख

सुदृढ़ मातु पितु भाइ ।

सन्मुख होत जो रामपद

करै न सहज सहाइ ॥

यदि सम्पत्ति धर्म से मिलती हैं तो धर्म भक्ति से प्राप्त होता है । धर्मानुकूल काम की प्राप्ति का आदर्श गीताने भी स्वीकार किया है । (१६)

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोर्मि भरतर्षभ—गीता ।

गोसाईं जी ने राम भक्ति ही के द्वारा सब कामनाओं की पूर्ति संभव मानी है ।

कामना को अगर किसी को गोसाईं जी ने भी थोड़ा बहुत महत्व दिया है तो वह कीर्त्ति कामना को । तो भी उन्होंने लोक सम्मान की बिलकुल ही पर्वाह नहीं की । जग सम्मान को “गाड़र की धसनि” के समान मानकर उसकी कभी कामना कहीं की:—

तुलसी गाड़र की धसनि जन जनता सन्मान

तो भी साधु समाज भनित सन्मानू” को अवश्य ही प्राप्तव्य माना है । कवि के नाते भी उन्हें बुधजनों द्वारा आदृत होने की कामना अवश्य थी :—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं ।

सो सुम बादि बाल कवि करहीं ॥

इसी प्रकार मुक्ति भी भक्ति द्वारा आपसे आप खिंची चली आती है :—

भगति विवस सो मुकुति गोसाईं ।

अन इच्छित आवइ बरिआईं ॥”

भक्ति जो सबसे बड़ी साध्य है उसके प्राप्त हो जाने पर यद्यपि भक्त अर्थ धर्म काम तथा मोक्ष का भी निरादर कर देता है तो भी वे सब उसके पीछे-पीछे लगे फिरते हैं :—

“मति कीरति गति भूति भलाई” में से मति की चर्चा रह गई जिसकी प्राप्ति पर गोसाईं जी ने बहुत महत्व दिया है ।

सो न होइ बिमल बिनु मति

इसी कारण उन्होंने “बिमल मति” तथा भक्ति की याचना की है :—

जासु कृपा निर्मल मति पाऊँ ।

किंतु वह मति भी भक्ति द्वारा सुजभ हो जाती है—बल्कि भक्ति ही मति बन जाती है :—

भगति मोरि मति स्वामि सराहीं

भक्ति के बिना उक्त सब साध्यों की व्यर्थता बताते हुए उन्होंने कहा है :—

कीरति कुल कर तूति भूति भलि
 सील सुभाय सलोने ।
 तुलसी प्रभु अनुराग रहित
 जस सालन साग अलोने ॥

इसके साथ ही, इन सभी की प्राप्ति स्वयं इन वस्तुओं के लिए नहीं वरन् इन्हें परहित का साधन मानकर ही इनकी प्राप्ति आवश्यक मानी है :—

कीरति भनिति भूति भलि सोई ।
 सुरसरि सब सम कहँ हित होई ॥

इसी सर्व हित या 'भलाई' ही में 'मति, कीरति, गति और भूति' की अन्तिम परिणति है ।

दोनों चतुर्वर्गों में (धर्म अर्थ काम मोक्ष तथा मति कीर्ति गति और भूति) में लौकिक तथा पारलौकिक दोनों हित तथा सुख मिले हुए हैं ।

मनुष्य जीवन की पूर्णता तथा सर्वांग गुता का साधन करने ही के लिये गोस्वामी जी ने लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निश्चयेस् की प्राप्ति का प्रतपादन किया है—

“जो परलोक यहाँ सुख चहहू ।”

“लोक लाहु परलोक निबाहू ।”

“लोकहु वेद न आन उपाऊ ।”

आदि पदों से उनका यह लौकिक और पारलौकिक दोनों की पूर्ति का उद्देश्य प्रगट होता है । वे उसी सिद्धांत को सर्वोच्च समझते हैं जो लोक तथा वेद दोनों के अनुकूल हो :—

लोकवेद सम्मत सब ही का

इसी कारण वे लोकमत और साधुमत, राजनीति और धर्म-नीति दोनों के अनुसार कार्य करने का आदेश देते हैं :—

“करब साधुमत लोकमत नृनय निगम निबोर ।”

वे लौकिक भुक्ति और पारलौकिक मुक्ति को परस्पर विरोधी नहीं किन्तु एक दूसरे का साधक समझते हैं। संसार में पुष्टि के साथ तुष्टि भी मिलनी आवश्यक है। तोष के साथ यदि स्वाद भी मिल जावे तो जीवन अधिक सरस हो जाता है। (१५)

इसी प्रकार प्रेय और श्रेय, सुख और हित, मोद और मंगल, स्वार्थ और परमार्थ, आत्म कल्याण और लोक कल्याण, स्वान्तः सुख तथा परान्तः सुख की प्राप्ति का मार्ग भी एक ही है :—

स्वारथ परमारथ सकल सुलभ एक ही ओर ।

द्वार दूसरे दीनता उचित न तुलसी तोर ॥

परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ है। स्वार्थ और परमार्थ की मर्यादा को एक करने ही के कारण राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं।

प्रेम के द्वारा स्वार्थ परमार्थ का समन्वय

राम प्रेम ही के द्वारा गुसाई जी ने इनकी एकता घटित की है। इस कारण राम नाम को वे प्रेम परमार्थ का सार कहते हैं।

राम नाम प्रेम परमारथ को सार है ।

अपने और पराये का भेद मिटाना ही, निश्रेयस् और अभ्युदय, आत्मिक मुक्ति और सांसारिक उन्नति, दोनों के लिये परमावश्यक है—

तुलसीदास मैं मोर गये बिन भब अति नाश न पावै ।

राम प्रेम ही इस भेद को मिटाने का एक मात्र साधन है :—

“राम नाम अनुराग ही जिय जो अति रातो ।
स्वारथ परमारथ पथी” तोहिं सब पतियावों ॥

X

X

X

मोठो अरु कठवति भरो रौताई अरु खेम ।
स्वारथ परमारथ सकल सुलभ राम के प्रेम ॥



वैदिक धर्म और तुलसीदास

तुलसीदास जी ने वेदों को सर्वोच्च स्थान तथा महत्व प्रदान किया है—यहाँ तक कि उन्होंने अपने मार्ग को श्रुति सम्मत हरि भगति पथ” (१) के नाम से अभिहित किया है। उसकी मर्यादा की रक्षा के लिये राम की अवतारणा की है (२) राम को वेद धर्म का रक्षक (३) तथा इसी को अवतार का मुख्य हेतु माना है (४) वेद को बेचने वालों को उन्होंने नीचा माना है (५) मानस प्रारंभ ही में उन्होंने वेदों को भव सागर की नौका मानकर बन्दना की है (६) सर्वत्र ही उन्होंने वेदों को प्रमाण

-
- (१) श्रुति सम्मत हरि भगतिपथ संजुतविरति विवेक (उत्तर०)
 - (२) श्रुति सेतु पालक राम तुम (अयोध्या०)
 - (३) वेद धर्म रक्षक सुर त्राता ।
 - (४) असुर मारि थापहि सुरन्ह, राखहि निज श्रुति सेतु ।
जग विस्तारहि विमल यश, राम जनम कर हेतु ॥
 - (५) बेचहि वेद धर्म दुहि लेहीं । (बाल काण्ड)
 - (६) बन्दहु—चारिहु वेद भव बारिधि बोहित सरिस ।

स्वरूप तथा धर्म का मूल आधार माना है। उसी के आधार पर चलने से सुखरान्ति को स्थापना हो सकती है। (७) निगम उनकी “निजवाणी” है।

इतना होने पर भी उन्होंने वेदों को ईश्वर की स्तुति करने वाले ही के रूप में चित्रित किया है। (८) वन्दी और वेदों का एक साथ ही उल्लेख किया है। समय समय पर वेद राम भगवान् की स्तुति करने भी को आये हैं, यथा जन्म और राज्याभिषेक के समय (९) इस विषय में गोस्वामी जी ने पुराणों ही का अनुसरण किया है। भागवत में गभगत श्रीकृष्ण की वेद-स्तुति प्रसिद्ध है। ईश्वर के ज्ञान में शारदा और शेष के साथ श्रुति भी हार मानती है। (१०)

कुछ विद्वानों का मत है कि वेद केवल देवताओं के प्रति की गई स्तुतियों का संग्रह मात्र है। अन्य विद्वान् कहते हैं कि वेद केवल यज्ञों में प्रयुक्त मंत्रों का संग्रह है। पहले मत को मानने वाले प्रो० ओडोल्फ (११) आदि हैं और दूसरे के समर्थक प्रो० ओल्डेंबर्ग (१२) हमें वेदों में दोनों प्रकार के मंत्र मिलते हैं। इस मत का समर्थन महापि जैमिनि ने किया है जो कि

(७) बरनाश्रम निजनिज धरम निरत वेद पथ लोग ।

चलहि सदा पावहि सुखाहि नहि भय सोउ न रोग ॥

(८) बंदि वेषधरि वेद तब जाये जैह श्रीराम (मा० उत्तर०)

(९) जयधुनि वंदी वेदधुनि मंगल गान निसान (मा० बा० १२६)

(१०) शारद श्रुति शेषा ऋषय अरोषा जा कहँ कोउ नहिं जाना
(मा० बा०)

(११) Prof. Odolf : The Regveda

(१२) Oldenberg : Relegion Des Veda

वेद को केवल कम-कांड मूलक मानते हैं और उसका प्रतिपादन न करने वाले मंत्रों को अनर्थक समझते हैं (१३)

कर्मकांड

गोसाईं जी वेदों के कर्मकांड को अपने समय के लिए उपयोगी नहीं मानते थे। वे यज्ञों की उपयोगिता केवल त्रेता के लिये समझते थे, (१६) और कलियुग के लिए इन क्रिया कलायों को व्यर्थ मानते थे (१५) वे कामनापूर्ण यज्ञ मार्गों के विरुद्ध थे। निष्काम कर्म ही उनका मूल मंत्र था। वे हिंसात्मक यज्ञ याग को अपावन यज्ञ समझते थे। (१६)

वैदिक देवता

तुलसीदास ने बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वावाद की, स्थापना की वेदों में भी इसके समर्थक सूत्र मिलते हैं। जैसे :—

“एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

इन्द्रं वरुणं मातरिश्वान मातुः।

(ऋ० १-१६४-४६)

किंतु सभी वैदिक देवता गोसाईं जी की दृष्टि में आदरणीय नहीं। वेदों का सबसे प्रधान देवता इन्द्र तक गोसाईं जी की दृष्टि में अत्यन्त हेय तथा नीच है। इन्द्र को स्वार्थ साधक, पर

(१३) आन्मायस्य क्रिय र्थत्वात् आनर्थक्यं अनर्थानाम्।

(पूर्व मीमांसा १-२-१)

(१४) ध्यान प्रथम जप यरव पुनि दूजे। (मा०)

(१५) आगम विधि जप याग करत नर सरत न काज खारोसो।

(विनय)

(१६) मेधनाद मख करै अपावन। आहुति देइ रुबिर अरु भैंसा

(मा०ला०क)

कायबाधक कपटी राजा के रूप में गुसाईं जी ने चित्रित किया है । (१७)

अन्य देवता भी इन्हीं के समान स्वार्थी कपटी और नीच माने गये हैं । इस काल में पूषन्, द्यौः पितर, अदिति, मित्र आदि देवताओं का तो नाम तक लुप्त हो गया था । काल, मरुत, यम, दिग्पाल अग्नि, सूर्य, वरुण, अश्विनी कुमार आदि का अवश्य ही गोसाईं जी ने आदर पूर्वक उल्लेख किया है पर उनको भी विश्वरूप राम परमात्मा का अंग मात्र है । (१८) वेदों में विष्णु पहिले यज्ञ और बाद में गार्हस्थ देवता हैं । गोसाईं जी ने उन्हें दोनों रूपों में माना है । इसी प्रकार करु को भी वेदों में इतना ऊँचा स्थान नहीं दिया जितना गुसाईं जी ने दिया है । वेद कालीन भयंकर रुद्र मंगल राशि शंकर बनकर मानस में आते

(१७) सुर स्वारथी इहरि हिय हारे (म० अयोध्या)

सरिस स्वान मववा ४ युवान् । कपट कुषाब्जि सौव सुरराजू ।
परअकाज प्रिय आपन काणू ॥

भृकुटि विलास भयङ्कर काला, नयन दिवाकर कच घनमाला ।
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा, निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥
स्रवन दिसा दम बेद बखानी, मारुत स्वास निगम निज जानी ।
अधर लोभ जम दसन कराला, माया हास बाहु दिग्पाला ॥
आनन अनल अंघुरति जीहा, उतपति पलन प्रलय समीहा ।
रोमराजि अष्टादस भारा, अस्थि सैल सरिता नस-जारा ॥
उदर उद्धि अधगो जातना, जगमय प्रभु, का बहु कलपना ।

दो०—अहंकार सिव बुद्धि अजमत ससि चित्त महान् ।

मनुज बास चर अचर-मय रूप राम भगवान् ॥

हैं । (१६) वे परब्रह्म के रूप (२०) भी हैं और संहार कर्त्ता रुद्र भी है । (२१) वेद माता गायत्री का ही रूप गुसाईं जी की सरस्वती या शारदा है । वेदों, के विघ्नकर्त्ता विनायक तुलसीदास जी के विघ्नहर्त्ता गणेश बन गये । (२२)



[१६] प्रियं शंकरं सर्वनाथ भजामि—मा०

[२०] त्रिभु व्यापकम् ब्रह्म वेद स्वरूपम्—मा०

[२१] करालं महाकालं कालं—मा०

[२२] विशेषे विवरण सर्व देव समं वयं में दिवये

निर्गुण सगुण समन्वय

तुलसीदास जी ने अपने सबसे पहिले वर्ण्य विषय ब्रह्म निरूपण का आधार, उत्तर वैदिक वाङ्मय उपनिषदों ही को चुना जो कि संसार में इस विषय के सबसे आदि ग्रन्थ हैं। तुलसीदास जी ने जिस 'अविनासी' 'सब घटबासी' 'अज' 'अद्वैत' 'अनुभव गम्य' 'अविगत' 'गोतीत' 'सच्चिदानन्द' 'सहज प्रकाश रूप' 'व्यापक' परमानन्द, 'परेश' 'पुराण—पुरुष,' प्रकाश-निधि,' 'परावर-नाथ', 'अकथ', अनादि, अनन्त' ब्रह्म का स्वरूप वर्णन किया है वह सब उपनिषदों पर आधारित है:—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिं तंह मोह निसा लवलेसा ॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अविगत अकथ अनादि अनूपा ॥
सहज प्रकास रूप भगवाना । नहिं तँह पुनि विज्ञान विहाना ॥

'व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद' आदि वर्णन तथा ब्रह्म के परस्पर विरोधी रूप का वर्णन (बिनुषद चलै सुनै बिनुकाना) सब उपनिषदों ही के समान हैं। ब्रह्म के विराट् रूप वर्णन भी उपनिषदों ही के आधार पर है:—

(१) सतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ उप०

× × ×

पद पाताल स्त्रीस अजधामा । अपरलोक अंगनि विश्रामा ॥ मा०

× × ×

(२) विश्वतश्चलुरुत विश्वतो मुखो ।
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्तपात् ॥

× × ×

विस्ववास रघुवंस मनि, करहु बचन विस्वासु ।
लोक कल्पना वेद कर अंग प्रति जासु ॥ मा०

(३) चंद्रमा मनसो जातश्चक्षुः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्नि रजायत ॥

× × ×

अहंकार सिव बुद्धि भज मन ससि चित्त महान ।
मनुज बास चर अचर मय रूप राम भगवान् ॥
(मानस लंका०)

(४) अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो—क०

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं

तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत् ।

अनाद्यवन्तं महतः परं ध्रुवं

निश्चाय्य तं मृत्यु मुखात्मुच्यते (कठ० ३—१५)

× × ×

अजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहम् ।

चिदाकाश माकाशवांस भजेऽहम् ॥ (मानस)

(५) निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरजनम् ।

अस्थूलं अनङ्गु अहर्षं अदीर्घम् ॥

(बृह० ३-८-८)

×

×

×

राम ब्रह्म व्याप जग जाना ।

परमानन्द परेस पुराना ॥ (मानस)

“जयति सञ्चित व्यापकानन्द यद् ब्रह्म”

अजित निरुपाधि गोतीत मव्यक्त विभुमेंक मनवद्य

मजमद्वितीयम् ।

नित्यनिर्मुक्त निर्मम निर्मान हरि ज्ञानघन सच्चिदानन्द

मूलं (विनय पत्रिका)

(६) तदेजति तन्नेजति, तः तद्वरेन्तिके

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाहय तः ॥

(ईश०-४-५)

×

×

×

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ विधि नाना ॥

अससब भौति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥

(मानस)

भागवत में भी लोक कल्प भगवान्' (विश्वरूप) का वर्णन कुछ इसी प्रकार मिलता है:—

नाभिर्न भोऽग्निर्मुखमम्बुरेतो

द्यौः शीर्षमाशः श्रुतिरङ्घ्रिरुर्वी

चन्द्रो मनो यस्य हृगर्क आत्मा

अहं समुद्रो जठरं भुजङ्गः ॥

(मा० १०-६३-३५)

ब्रह्म को अनंत गुणों से विभूषित करके भी गोसाईं जी ने

यही स्थिर रक्खा है कि उसके लिए कोई भी उपाधि नहीं लगाई जा सकती—वही निरुपाधि है। किन्तु यदि उसे निर्गुण निरुपाधि कहें तो यह “निर्गुणत्व” ही उसका एक गुण हो जाता है। इसलिए उसे वेदों तथा उपनिषदों में “नेति नेति” शब्दों से निरूपण किया गया है। मतलब यह कि ब्रह्म को न निर्गुण कह सकते न सगुण वह दोनों से पर है। वह होती है और कबोरदास ने नेति नेति को बड़ी अच्छी तरह समझा दिया है—

जो है कहो तो है नहीं नाहीं कहौ तो है ॥
है नाहीं के बीच में जो कछु है सा है । (५)

इसी कारण ब्रह्म का कोई पार नहीं पा सकता और न उसका कोई रूप निर्धारित किया जा सकता ।—

‘सारद सेष महेस विधि, आगम निगम पुरान ।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहि निरंतर गान ॥

किन्तु जब “नेति नेति” है तब उसका गुण गान कैसा? निर्गुण में गुण कहां से आये ? इसका उत्तर गोसाईं जी यों। देते है:—

“सब जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहे विनु रहा न कोई ।
तहां वेद अस कारन राखा । भजन प्रभाव भांति बहु भाया ॥

ब्रह्म को अवर्ण्य समझते हुए भी उसके गुण गान किये बिना रहा नहीं जाता। भक्ति ही के कारण निर्गुण परमात्मा को सगुण रूप धारण करना पड़ता है। भक्त-लोग उसे अपनी इच्छानुसार रूप धारण करने पर बाध्य कर ही डालते हैं। भक्तों ने “अनाम” (नाम रहित) राम को राम नाम से पुकारा अतः उन्हें राम बनना पड़ा ।—

‘एक अरूप अनीह अनामा । अज सच्चिदानंद परधामा ।
व्यापक बिस्व रूप भगवाना । तेहि धर देह चरित कृत नाना ॥
(मानस)

इसका वर्णन वाणी से नहीं हो सकता:—

‘मन समेत जेहि जान न वानी । तरकि न सकहि बुद्धि पर जानी ॥
(यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह छां० उ०)

भरद्वाज ने एक ही दोहे में राम का स्वरूप वर्णन कर दिया है—

‘राम सरूप तुम्हार बचनअगोचर बुद्धिपर ॥
अविविगत अकथ अपार । नेति नेति जेहि निगम कइ ॥
उपनिषद् कहता है:—

‘अथातो आदेशो नेति नेति ।’

‘स एष नेति नेति आत्मा ।’ (छां० उ०)

(५) इसी भाव को सुन्दर दास जी इस प्रकार कहा है:—

नाहीं नाहीं करके है
है है करै बखानि ।
नाहीं है के मध्य है
सो अनुभव करि जानि ॥

(६) इसी कारण कबीर कहते हैं:—

जहाँ बोल तँह आखर आवा ।
जहँ अबोल तँह मन न रहावा ।
बोल अबोल मध्य है सोई ।
जस अपु है तस लखै न कोई ॥

उपनिषदों तथा गीता के ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में जो परस्पर विरोधी वचन उद्धृत किये जा चुके हैं उनसे भी यही सिद्ध

होता है कि ब्रह्म के दो रूप हैं ।—उपनिषदों में ब्रह्म पर और अपर अमर्त्य (१) शब्द और अशब्द (२) मूर्त्त और अमूर्त्त मर्त्य और अमृत, स्थिर और अस्थिर सत् और त्यत्—दोनों प्रकार के रूप माने गये हैं । (३) शंकराचार्य ने भी इसी के अनुसार ब्रह्म के दो रूप माने हैं पहिला नाम रूप सहित और दूसरा उपाधियों रहित । (४)

आगे चल कर पुराणों ने इस कल्पना को और आगे बढ़ाया और विष्णु को निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूपों को स्वीकार किया । (५) भगवान् की लीला ही को उन्होंने निर्गुण से सगुण रूप धारण करने का मुख्य कारण बतलाया । (६) सृष्टि के प्रारंभ में वह स्वयं उस माया की उपाधि को स्वीकार कर सगुण हो जाता है । (७)] इसी परम्परा को गोसाँई जी ने भी स्वीकार किया है । ब्रह्म गीता के “अनुसार” सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् है । उसमें इंद्रियां तो नहीं हैं, किंतु सब इंद्रियां के गण वर्तमान हैं । इसी से वह निर्गुण होकर ही गुण भोक्ता है ।

(१) एतद्वै सत्यकाम परंच अपरंच (प्रश्न० ५-२)

(२) द्वे परब्रह्मणी अभिधेये शब्दश्च अशब्दश्च (मैत्री० ६-२३)

(३) द्वे वाच ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च । (वृह० २ १-१)

(४) द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते नामरूपभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम् । (ब्रह्मसूत्र)

(५) सगुणो निर्गुणो विष्णुः (विष्णु० पु०)

सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् (भाग० ७-६-४५)

(६) लीलया वाऽपि भुंजेन् निर्गुणाःस्य गुणाः क्रियाः (मूला०

३-७-२१)

(७) गृहीत मायोरगुणः सर्वादाऽवगुणः स्मृतः । (भग-२-६-२९)

‘निर्गुण’ गुण मोक्ष च, (गीता) ब्रह्म में दो प्रकार के गुणों का आरोप किया जाता है—वह दूरभी है, पास भी; निर्गुण भी सगुण भी; निराकार भी है और साकार भी । इन सब परस्पर विरोधी विशेषणों की एकता किस तरह की जाय ? इसके उत्तर में गोसाईं जी का क्या कहना है ? कोई ब्रह्म को निर्गुण कहता है । कोई सगुण । यह मत भेद गोसाईं जी ने काक भुशुंडि और लोमश तो ऋषि के संवाद में अच्छी तरह व्यक्त किया है । निर्गुण मानने वाले अपना मत सिद्ध करते हैं और सगुण मत वाले अपना निर्गुण ब्रह्म किस प्रकार सगुण हो सकता है इस पर बड़ों-बड़ों को संदेह हो जाना स्वाभाविक ही है । पावती को भी इसी प्रकार संदेह हुआ :—

सगुन अगुन नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होई ।
निर्गुण परमात्मा के सगुण साकार रूप धारण करने पर पावती और सती को भी मोह हो गया था । उनकी समझ में यह न आया कि निर्गुण निराकार ब्रह्म किस प्रकार सगुण और साकार होकर नर चरित्र कर सकता है :—

“जौं नृप तनय तौ ब्रह्म किमि नारि विरह मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमित बुद्धि अति मोरि ॥

× × ×

ब्रह्म जो व्यापक विरज अज निर्गुन अलख अभेद ।
सो कि देहि धरि होइ नर, जाहि न जानत बेद ॥

इतना सुनवे ही शंकर जी क्रुद्ध हो पड़े । वे अपने प्रभु का इतना अपमान न सह सके और उन्होंने ऐसा कहने वालों को खूब खरी खोटी सुना डाली :—

कहिं सुनि अस अधम नर, प्रसे जे मोह पिसाच ।
पाखंडी हरिपद विमुख, जानहि भूठ न माँव ॥

गोसाईं जी ने इन मतों का समन्वय दो प्रकार से कराया :—
 सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा, बारि दीचजिमि गावहिं वेदा॥
 अगुन अरूप अलख अज जोई, भगति प्रेमवस सगुन सो होई ।।
 जो गुन रहित सगुन सो कैसे । जल हिम उरल विलग नहिं जैमे ॥
 एक दारु गत देखिय एकू । पावक सम जुग ब्रह्म विबेकू ॥
 (मानस)

जैसे बर्फ और पानी या पानी और तरंग, अलग नहीं उसी प्रकार सगुण और निर्गुण अलग अलग नहीं । केवल देखने और कहने मात्र में अन्तर है । किसी ऊपरी विकार के कारण निर्गुण ब्रह्म सगुण नहीं हो सकता, वह सदा निर्विकार है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि मोह वश होकर उसने सगुण रूप धारण किया :—

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा ।

तेहि किमि कहिय विमोह प्रसंगा ॥

सगुण रूप उसकी दृश्य लीलामात्र है । सगुण स्वरूप धारण करने से उसको असली रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता । केवल उसके नाम और रूप में अन्तर हो जाता है; ब्रह्म का यथार्थ भाव ज्यों का त्यों बना है । नाम और रूप दोनों ईश्वरी उपाधियां हैं (नाम रूप दोउ ईस उपाधी) उनके कारण किसी वस्तु की असलियत में अन्तर नहीं आता वे उतकी दशा में अन्तर नहीं कर सकते । सगुण हो जाने से ईश्वर के नाम में यही अन्तर हो जाता है कि जिसे पहले निर्गुण कहते थे अब उसे सगुण कहने लगते हैं कि उसी प्रकार जैसे जल को हिम रहने लगते हैं ।

जो अभी तक प्रछिन्न अग्नि के समान या वह अब प्रगट हो जाता है । जिसे निर्लिप्त, संसार से अलग मोह रहित मानते थे उसे दयामय कृपालु जगपालक आदि मानने लगते हैं ।

हमारी समझ के फेर से सगुण और निर्गुण अलग-अलग दीखने लगते हैं। इसी कारण हमें भ्रम हो जाता है। इस भ्रम का कारण हमारी समझ का ही दोष है, न कि ब्रह्म का कोई असली विकार या परिवर्तन।

अपनी माया के आश्रित होकर ब्रह्म सगुण रूप धारण करता है। यही माया ब्रह्म को सगुण रूप दे देती है। इसी माया के कारण ब्रह्म का नाम रूप बदला हुआ दीखता है। यह केवल हमारा भ्रम है। किन्तु :—

निज भ्रम नहिंसमुझहिंअज्ञानी । प्रभु पर मोहधरहि जड़ प्रानी ॥

इस भ्रम को गोसाईं जी ने इन उदाहरणों से समझाया है :—

“उमा राम विषयक अस मोहा ।

नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा ॥

जथा गगन घन - पटल निहारी ।

भूषेउ भानु कहहिं कुविचारी ॥

धुआँ अंधेरा और बादल के द्वारा सूर्य के न दीखने पर हम कहते हैं कि वह छिप गया। पर यह हमारा भ्रम है। अगर उस बादल की छाया से अलग जाकर हम देखें तो बराबर सूर्य दीख पड़ेगा। अतः वह नहीं छिपा, हमारी आँखों के सामने बादल आ गया और हमही सूर्य से छिप गये। इसी प्रकार रामरूपी सूर्य को हम अपने भ्रम के कारण सगुण समझ बैठते हैं; यद्यपि वह असल में सदा निर्गुण निर्विकार है उसका सगुण रूप उसकी लीला है।

इस प्रकार गोसाईं जी ने यह समन्वय भी दो परस्पर विरोधी मतों द्वारा किया है :—

(१) निर्गुण ब्रह्म ही भक्ति वश होकर सगुण रूप धारण करता है। और

(२) निर्गुण ब्रह्म को सगुण समझना हमारा भ्रम मात्र है । उसमें यथार्थता कुछ भी नहीं ।

अब इनकी एक वाक्यता कैसे हो ?

पहिले मत में यह माना गया है कि निर्गुण परमात्मा ही अपनी लीला के द्वारा भक्तिवश होकर संसार के हित के लिये अपना रूप बदलकर सगुण रूप होता है । इस मत के अनुसार निर्गुण रूप भी उतना ही सच है जितना कि सगुण रूप । किंतु दूसरे मत के अनुसार सगुण रूप बिलकुल असत्य ठहरता है । पहला मत रामानुज का है जो ब्रह्म के सगुण रूप को पारमार्थिक अर्थात् यथार्थ और सत्य समझते हैं । दूसरा मत शंकराचार्य का है जो सगुणरूप तथा संसार दोनों को बिलकुल असत्य प्रातिभासिक समझते हैं । प्रातिभासिक का अर्थ है “दीखने वाला” जिसका यथार्थ अस्तित्व कुछ भी नहीं । दूसरा मत ज्ञान मार्ग वालों का है और पहिला मत भक्ति मार्ग वालों का है । भक्तिमार्ग में सगुण ब्रह्म को यथार्थ माना जाता है और तभी उसकी भक्ति हो सकती है । जब उसका यथार्थ अस्तित्व ही नहीं तब उसकी भक्ति कैसे ?

शंकर का ज्ञान मार्ग सगुण को माया निर्मित अतः असत्य मानता है; किन्तु रामानुज का मन उसे “निज इच्छा-निमित्त वपु” समझता है । तुलसीदास ने इन दोनों मतों का एकीकरण कर दिया है । उन्होंने सगुण रूप को माया निमित्त तो अवश्य माना किन्तु शंकर के समान उसे असत्य नहीं माना । यह माया भी उसी की शक्ति है अतः भक्तों के लिये सत्य है । इसका स्पष्टीकरण अगले प्रकरण में होगा ।

इस प्रकार गोसाईं जी ने निर्गुण और सगुण में समन्वय स्थापित किया । उनकी विशेषता यही है कि वे सगुण रूप की पूरी भक्ति करते हुए भी निर्गुण रूप की याद एक क्षण के लिये

भी नहीं भुलाते । लोगों को निर्गुण और सगुण के बीच का यही अन्तर न भूल जावे; वे कदा राम को सगुण तथा साकार शरीर में होने के कारण परिवर्तित तथा शरीरी मनुष्य न समझ बैठें—इसी कारण उन्होंने पद पद पर उनके निर्गुण, निराकार निर्विकार, अक्षर अनन्त, माया-गुण-गोपार, सर्वव्यापी, सर्वात्मक रूप की बार बार याद दिलाई है ।

दोनों रूपों की एकता समझते हुए भी उन्होंने सगुण साकार रूप की ही भक्ति करने का उपदेश दिया है, क्योंकि केवल वही ध्यान में आ सकता है । सूरदास ने भी इसी कारण कहा :—

साकार रूप भी गोसाईं जी ने उसी दृष्टि से देखा । साकार भक्तिमें वे अग्रगण्य हैं यह रूप लीलामय हो या माया-निर्मित हो, इससे सगुण साकार रूप का ध्यान तथा उपासना करने में कोई बाधा नहीं आती । क्योंकि उस रूप के भीतर ब्रह्म का वही निर्गुण रूप छिपा हुआ है जिस पर सदा ध्यान रखना आवश्यक है । गोसाईं जी का मत है कि उपासना सगुण साकार की ही करो किन्तु उनके निर्गुण निराकार रूप धर हीयान रखकर । चाहे निर्गुण रूप ही को सत्य समझो पर इस सगुण साकार रूप को उसी निर्गुण का दूसरा रूप समझने रहो । गोसाईं जी के निर्गुण और सगुण दोनों का समन्वय करने की यह प्रणाली है ।

सगुण और साकार

भक्ति मार्ग के आरम्भिक काल में ब्रह्म केवल सगुण माना गया फिर धीरे-धीरे उसका साकार रूप भी माना जाने लगा । जब ब्रह्म सगुण हुआ—उसे संसार के पालन, रक्षण तथा भक्त की भावनाओं का ध्यान हुआ तब वह संसार के हित के लिये

रेख न रूप बरन जाके नहिं ताको हमें बतावत ।

अपनी कहौ दरस वैसे को तुम कबहुँ हौ पावत ॥

किंतु सूरदास के समान उन्होंने निर्गुण का निरादर नहीं किया कि—

सुनि है कथा कौन निर्गुन की रचि पचि घात बनावत ।
साकार रूप भी धारण करने लगा । तुलसीदास ने सगुण और साकार को एक ही में मिला दिया है । सगुण का अर्थ है गुण सहित । निराकार होकर भी ब्रह्म सगुण रह सकता है । किन्तु गोसाईं जी ने “सगुण” को अधिकतर “साकार रामरूप” ही के अर्थ में प्रयोग किया है ।

निर्गुण ब्रह्म के राम रूप धरने के गोसाईं जी ने निम्न-लिखित कारण बतलाये हैं— (१) अत्याचारियों तथा अधर्मियों का नाश कर पृथ्वी का भार उतारना, देवता तथा साधु सन्तों एवं गो ब्राह्मण की रक्षा करना और धर्म का पुनः स्थानप करना ।

(२) नर चरित्र करके लोगों के सामने मनुष्यत्व का सर्वोत्तम आदर्श स्थापित करना, जिसको गाकर तथा जिसका अनुकरण कर लोग धर्म परायण होकर सरलता से व्यक्तिगत मुक्ति तथा सामाजिक हित साधन कर सकें ।

गोसाईं जी ने निर्गुणोपासना को कठिन तथा दुःसाध्य समझ कर ही भक्तिपंथ के लिये सगुण तथा साकार राम की उपासना ही उपयोगी मानो । निर्गुण को तो भक्ति ही नहीं सकती— केवल सगुण ही भक्ति मार्ग का एक मात्र आधार है । किन्तु एक स्थान पर भिन्न लिखित वाक्य से कई लोग यह समझ बैठते हैं कि गोसाईं जी के मतानुसार निर्गुण रूप सरल तथा सगुण रूप अत्यन्त कठिन हैः—

निगुण रूप सुलभ अति सगुण न जाने कोय ।

सुगम अगम नात! चरित सुनि मुनि मन भ्रम होय ॥

किन्तु इस दोहे का अर्थ यह नहीं है कि जो साधारणतः लगाया जाता है और जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। इसका केवल यही रहस्य है कि “सगुण” शब्द का यथार्थ अर्थ समझने में लोगों को बहुत भ्रम हो सकता है। यह समझना अत्यन्त कठिन है कि निगुण ब्रह्म ने सगुण रूप कैसे और क्यों धारण किया ?

सगुण ब्रह्म के नाना प्रकार के मानवी चरित्रों का अर्थ न समझकर लोग संदेह करने लगते हैं कि निर्गुण परमात्मा इस प्रकार के चरित्र कैसे कर सकता है। सगुण रूप के इस शीघ्र समझ में न आने वाले गूढ़ रहस्य ही के कारण गोसाईं जी ने उसे इस प्रकार ‘अगम’ कहा है। इसके विरुद्ध “निर्गुण” इस शब्द में इस प्रकार की कोई गूढ़ता नहीं है कि जिसके कारण भ्रम होने की संभावना हो। इस कारण उसे ‘सुगम’ कहा।

सगुण ब्रह्म का उक्त स्वरूप ही समझना अत्यन्त कठिन है उसकी अराधना करना कठिन नहीं है। ज्ञान मार्ग द्वारा निगुण का स्वरूप समझ कर उसकी उपासना करना ही कठिन है।—

“ज्ञान अगम प्रत्यूत अनेका ।

साधन कठिन न मन कहूँ टेका ॥

कारण गोसाईं जी ने निगुण की उपासना के स्थान पर सगुणपासना ही को पुष्ट किया है। उन्होंने जितने भक्तों का चित्रण किया है वे सभी सगुण रूप श्रीराम के भक्त हैं। बड़े-बड़े ज्ञानरत योगी ऋषियों से भी गोसाईं जी ने अपने आराध्य रामरूप की उपासना कराई है।—

जो ब्रह्म व्यापक विरज अज कहि बिमल मनपर ध्यावहीं ।

ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुण जस नित गावहीं ॥

कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव । अव्यक्त जिहि स्तुति गाव ॥
मोहि भाव कोसल भूप । श्राराम सगुन सरूप ॥

कागभुशुंडि और लोमश ऋषि के वाद-विवाद के द्वारा भी गोसाईजी ने सगुण मत को ही पुष्ट किया है । किंतु गोसाईजी में एक अद्भुत विशेषता है । उन्होंने बड़ी युक्ति के साथ निर्गुण और सगुण का समन्वय किया है । सूरदासजी ने कहा है :—

रूप रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चक्रित धावै ।

इसी अवलम्ब या 'टेक' ने दोनों को बिलकुल एकाकार बना दिया है । उपासना तो वे सगुण तथा साकार रामरूप ही की करते हैं; किंतु हर जगह राम को निर्गुण, निराकार, निर्विकार, सच्चिदानंद ब्रह्म ही कहकर वर्णन करते हैं । उनके राम ही के सगुण और निर्गुण दो स्वरूप हैं । वे दोनों अलग अलग नहीं । इस प्रकार गोसाईजी ने सगुण को भी निर्गुणत्व तथा निर्गुण में भी सगुणत्व का मिश्रण कर सगुण-निर्गुण को बिलकुल एकाकार कर दिया । सुतीक्ष्ण ने स्तुति की है—

जय सगुन निर्गुन राम रूप अनूप भूप सिरोमने ।

निर्गुन सगुन विषम सम रूपं । ज्ञान गिरा गोतीत अनूपं ।

उन्होंने निर्गुण सगुण के विवेचन करते हुए अतना रुचि साफ-साफ बतला दी है कि चाहे कोई भी रूप सच हो, किंतु मुझे तो यही सगुण रूप अच्छा लगता है—

जे जानहिं ते जानहु स्वामी ।

अगुन सगुन उर अन्तरजामी ॥

जो कोसलपति राजिवनयना ।

करहु सो नाथ हृदय मम अयना ॥

सच्चे भक्त लोग दोनों रूपों की एकता समझकर अपनी रुचि के अनुसार निर्गुण अथवा सगुण की उपासना करते हैं। वे इस झगड़े ही में न पड़कर अपने लिये सीधा सा मार्ग चुन लेते हैं।

ऊपर की चौपाइयों में सगुण निर्गुण की एकता बतलाते हुए भी मुनि ने सगुण रूप को ही सच्च स्थान दिया है। इन दो चौपाइयों में मुनि ने साफ कह दिया है कि मुझे सगुण अगुण के पचड़े में पड़ने की जरूरत नहीं। मुझे तो तुम्हारा साकार रूप ही अच्छा लगता है। चाहे तुम सगुण हो चाहे निर्गुण, मुझे तो तुम्हारे साकार रूप से मतलब है। एक दृष्टरे ऋषि ने कहा है कि यद्यपि मैं आपके निर्गुण रूप को अच्छा तरह जानता हूँ, तो भी सगुण रूप ही की भक्ति करता हूँ :—

“यह तव रूप बखानौ जानौ।

फिर फिर सगुन ब्रह्म रति मानौ ॥”

गोसाईंजी ने सगुण और निर्गुण का जिस अद्भुत रूप से सामंजस्य किया और जिस प्रकार निर्गुण को प्रधान रखकर सगुण साकार उपासना का प्रचार किया है, वह अभूतपूर्व है। जिन्हें ब्रह्म की एकता का ज्ञान हो गया है, वे निर्गुण सगुण ब्रह्म में भेदभाव न समझेंगे, भेद वे ही करेंगे कि—

“जिन्हके अगुन न सगुन बिबेका।

जलहिं कल्पित बचन अनेका ॥”

नाम माहात्म्य—

इसके अतिरिक्त सगुण और निर्गुण दोनों रूप समझने हुए गोसाईंजी ने नाम को दोनों से श्रेष्ठता दी है:—

अगुन सगुन दोउ ब्रह्म सरूपा ।
 अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥
 मोरे मत बड़ नाम दुहूँते ।
 किये जिहि जुग निजबस निजबूते ॥
 उभय अगम जुग सुगम नाम ते ।
 कहेउ नाम बड़ ब्रह्म राम ते ॥

गोसाईंजी निर्गुण ब्रह्म को “ब्रह्म” तथा सगुण ब्रह्म को “राम” नाम से संबोधन करते हैं, और राम नाम को दोनों में श्रेष्ठ सिद्ध करते हैं । यह इस प्रकार लिखा जा सकता है:—

राम (नाम)

निर्गुण ब्रह्म (ब्रह्म) सगुण ब्रह्म (राम)

राम नाम ही पर गोसाईं जी ने भक्ति मार्ग का आधार स्थापित किया है । सगुण निर्गुण दोनों को कठिन मानकर राम नाम ही का सुख-साध्य, निर्गुण सगुण दोनों को प्राप्त कराने तथा दोनों की एकता स्थापन करनेवाला माना है । राम नाम मानों सगुण और निर्गुण के बीच में साक्षात् हैं:—

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी ।

उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ॥

दुभाषिये (नाम) को सहायता से हम निर्गुण की अनहद वाणी को सगुण को सर्वसुलभ लोकभाषा में अनूदित कर सकते हैं । देहलो दोपक की तरह यह नाम रूपी चिन्तामणि निर्गुण तथा सगुण दोनों को प्रकाशित और प्रबोधित करता रहती है । इस नाम के सूत्र में निर्गुण और सगुण दोनों मणियां गुंथी जा सकती हैं । गोसाईंजी सरीखे सफल कलाकार ने बड़ी कुशलता के साथ दोनों को गुंथकर अपने आराध्य के गले में वरमाला अर्पित की है ।

गुसाईं जी ने “राम” शब्द को सगुण और निगुण के बीच में एक सेतु के समान बाँध दिया है जो कि दोनों को एक में मिलता है। हृदय में निगुण की भावना, नेत्रों में सगुण का सुन्दर स्वरूप तथा मुख में ‘उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी’ नाम की साक्षी ! निम्नलिखित दोहे में निगुण सगुण तथा नाम तीनों का मेल कर दिया गया है—

हिय निर्गुन नैनन सगुन, रसना राम सुनाम ॥
मनहुँ पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥

गुसाईंजी की यह युक्ति सचमुच भारत के धार्मिक इतिहास में एक प्राचीन मौलिक तत्व का प्रतिपादन है।

नाम और रूप

“राम” शब्द का उच्चारण करते ही हृदय में किन भावों का उदय होता है ? इसका उच्चारण क्यों किया जावे ? जो सगुण साकार राम रूप के भक्त हैं, राम नाम का उच्चारण करते ही प्रभु का रूप उनकी आँखों के सामने नाचने लगता है। उनकी दृष्टि में इस राम (नाम) और राम नाम धारी (रूप) परमात्मा में घनिष्ठ संबंध है। नाम लेते ही राम रूप उनके नेत्रों में छा जाता है। नाम और रूप के संबंध को दृष्टि में रखकर गोसाईंजी ने लिखा है:—

देखिय रूप नाम आधोना, रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना।

अतः नाम ही के आधार पर साकार ब्रह्म का साक्षात्कार है। ‘नाम’ और ‘नामी’ में इसी प्रकार का परस्पर संबंध है।

जब तक राम रूप प्रत्यक्ष नहीं हुआ तब तक राम नाम जपना एक प्रकार से निराकार ही की उपासना करना है। जब

तक रूप नहीं देखा तब तक राम शब्द से निर्गुण ही पर प्रेम उत्पन्न होता है—

सुमरिय नाम रूप विनु देखे । आवत हृदय सनेह बिसेपे ॥

इस प्रकार निर्गुणोपासक भी राम नाम से उतना ही लाभ उठा सकते हैं जितना कि सगुणोपासक । इसीलिये वह दोनों के लिये उपयोगी है ।

सगुण और निर्गुण दोनों ही को यथार्थ ज्ञान के लिये नाम का आश्रय अत्यन्त आवश्यक है । निर्गुण ईश्वर के यद्यपि कोई नाम रूप नहीं है, तो भी ज्ञान के लिये कुछ न कुछ नाम देना ही पड़ता है । फिर “राम” नाम ही से उसे संबोधन क्यों न किया जावे ? उसी प्रकार सगुण भी बिना नाम के परिचित तथा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । इस तरह निर्गुण सगुण दोनों ही के बीच में नाम साक्षी रूप है । इसीलिये गोसाईंजी ने कहा है—अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी ।

वह दोनों सगुण और निर्गुण के अस्तित्व का प्रत्यक्ष साक्षी है । नाम से सगुण ब्रह्म का अस्तित्व तो प्रकट ही है; क्योंकि जिसका नाम है, उसका कोई न कोई रूप भी अवश्य होना चाहिये । जब राम का नाम है तब राम का रूप भी होना चाहिये । यह तो सगुण व साकार ब्रह्म की साक्षी हुई । किन्तु राम नाम को निर्गुण की साक्षी रूप किस प्रकार कहें, जब कि निर्गुण के रूप ही नहीं है ?

इस पर वेदान्त तथा उन्हीं के अनुसार गोसाईंजी का कथन है कि निर्गुण के भी रूप तथा नाम है । “निर्गुण” एक नाम ही है । रूप के विषय में उनका यह कहना है कि निर्गुण भी ब्रह्म का रूप है और सगुण भी:— सगुन अगुन दोउ ब्रह्म सरूप ।

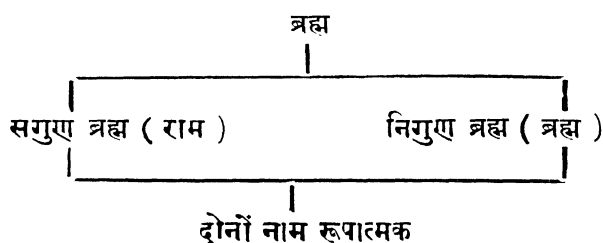
(द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तचामूर्त्तमेव च :— वृह०)

ये दोनों एक ब्रह्म के दो रूप मात्र हैं। इसीलिये उपनिषदों में वह सगुण, साकार, निर्गुण निराकार तथा इन सबसे परे हैं।

ईश्वर न निर्गुण है और न सगुण—ये दोनों उसके नाम रूपात्मक स्वरूप हैं। फिर एक को विकारी और दूसरे को निर्विकार कैसे कहें ? इसी कारण गोसाईंजी ने दोनों को ब्रह्म से बहुत नीचा स्थान दिया है। सगुण भी नाम रूपात्मक है और निर्गुण भी। यथार्थ ब्रह्म नाम रूप से परे हैं।

नाम रूप दोनों ही उस ब्रह्म या राम की उपाधि मात्र हैं। सारांश यह कि :—

- (१) सगुण नाम रूपात्मक है।
- (२) निर्गुण भी नाम रूपात्मक है।
- (३) ब्रह्म अथवा ईश इन रूपों से परे हैं। वे उसकी उपाधियाँ हैं।
- (४) सगुण और निर्गुण दोनों ही ब्रह्म या राम के दो रूप मात्र हैं। इसलिये उक्त बातों को इस प्रकार लिख सकते हैं :



अवतार-समन्वय

भगवान् का सगुण अवतार माया के संबंध से, उन्हीं की स्वतंत्र इच्छा से, हुआ है। अवतार ग्रहण करने के कारण गोसाईंजी ने गीता के अनुसार निम्न चौपाइयों में बता दिये हैं:—

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी ॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीढ़हिं विप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा । हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ॥
भक्तों तथा संतों ही के लिये भगवान् निर्गुण से सगुण होते हैं—

“अगुन अरूप अलख अज जोई । भगति प्रेम बस सगुन सो होई ॥

उनका यह अवतार इच्छा मय है:—

विप्र धेनु सुर संत हित, लीन मनुज अवतार ।

निज इच्छा निमित्त तनु, माया गुन गो पार ॥

इसमें गोसाईंजी यह सिद्ध करते हैं कि माया का इसमें कुछ कर्त्तव्य नहीं है; क्योंकि भगवान् माया के गुणों से परे हैं । वे प्रकृति की इच्छा से नहीं, किंतु स्वयं अपनी ही इच्छा से शरीर धारण करते हैं । वे मायाधीश हैं—माया के दास नहीं । विप्र धेनु सुर संतों के दुःख ही अवतार धारण करने का एकमात्र कारण नहीं हैं । संतरक्षण और दुष्ट दमन तो बिना अवतार धारण किये भी हो सकता है । भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं, उन्हें इतने से काम के लिये इतना बड़ उठाने की आवश्यकता नहीं ।

इसी बात को ध्यान में रखकर गोसाईंजी ने अवतार के तीन प्रधान कारण बतलाये हैं —

(१) सुर संत-गो ब्राह्मण-प्रतिपाद तथा दुष्ट दमन (असुर मारि थापहिं सुरग)

(२) शास्त्र प्रतिपादित मर्यादा का स्वयं पालन करना और उसी के आधार पर अनुकरणीय आदर्श की स्थापना— पाछहिं निज स्रुति सेवु)

(३) मनुष्यों के लिये एक सुज्ञम आराध्य उद्दिष्ट करना
(जग विस्तारहिं विमल जसु)

असुर मारि थापहि सुरन्ह पालहि निज श्रुति सेतु ।

जग बिस्तारहि विमल जसु राम जनम कर हेतु ॥

अवतार तत्व का यह एक बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त है । केवल दुष्ट दमन तो दूसरे प्रकारों से भी हो सकता था; किन्तु यह मनुष्यत्व का आदर्श दूसरे किसी प्रकार से संभव न था । मनुष्य समाज के अनुकरण तथा अनुसरण के लिये पृथ्वी पर एक आदर्श चरित्र की आवश्यकता होती है । भगवान् के सिवा निर्दोष चरित्र दूसरा नहीं हो सकता । वही लोगों के लिये अनुकरण तथा आराधन का सर्वोत्तम साधन हो सकता है । राम और कृष्ण भगवान् के पूर्ण अवतार माने गये हैं; क्योंकि उन्हीं में मनुष्य चरित्र का पूर्ण विकास हुआ है । अन्य अवतार भी भगवान् ही के अंश हैं किन्तु उनमें मनुष्यों के अनुकरण के लिये विशेष सामग्री नहीं है । शेष अवतारों में भगवान् ने ईश्वर चरित्र किये हैं; किन्तु इन दो अवतारों में उन्होंने मनुष्य चरित्र को प्रधानता दी है तथा उसका पूर्ण विकास किया है । इसी कारण शेष अवतार तो केवल आराधनीय हो रह गये; किन्तु ये दो अवतार आराधनीय के साथ-साथ अनुकरणीय भी हुए ।

गोसाईंजी के समय अवतारों के संबंध में तीन प्रकार की भावनार्यें प्रचलित थीं :—

(१) निर्गुण ब्रह्म संसार के हित के लिये अवतार लेता है ।

(२) साकेतवासी राम अपने भक्तों की भक्ति से प्रेरित होकर अवतार लेते हैं ।

(३) क्षीरसागर निवासी विष्णु लोककल्याण या लीला करने के लिये अवतार धारण करते हैं ।

गोसाईंजी ने अवतार के हेतु बतलाते समय इन तीनों मतों का समन्वय कर दिया है । जब अत्याचार पीड़ित पृथ्वी

गोरूप धारण कर शंकरजी के पास जाती है, तब वे तीनों मतों का उल्लेख करते हुए पहले मत की पुष्टि करते हैं :—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ।

भागवत और अध्यात्म रामायण में देवता क्षीरसागरवासी विष्णु की शरण लेते हैं। गोसाईंजी सर्वव्यापी ब्रह्म का आवाहन करते हैं। यही उनका “निज मत” है; किन्तु शेष दो मतों की भी वे उपेक्षा नहीं करते। नारद शाप के कारण क्षीरशायी विष्णु को अवतार धारण करना पड़ता है। अब रहा तीसरा मत— साकेतवासी राम का अवतार। उसका उल्लेख भी उन्होंने मनुशत रूपा के वरदान में किया है :—

विधि हरिहर तप देखि अपारा । मनु समीप आये बहु वारा ॥
माँगहु बर बहु भँति लोभाए । परम धीर नहि चलिहि चलाए ॥

जब साकेत निवासी राम प्रकट हुए तभी मनु को संतोष हुआ। इस प्रकार प्रथम अवतार शंकर प्रतिपादित निर्गुण रूप का है, दूसरा सगुण विष्णु का और तीसरा सगुण निर्गुण रूप का है। गोसाईंजी ने इन्हीं तीनों का समन्वय कराया है।

पूर्ण और अंशवतार

हिन्दू धर्म में कुल चौबीस अवतार माने गये हैं। पर गोसाईंजी ने केवल दश अवतारों का उल्लेख किया है। (१) उनमें से भी उन्होंने रामावतार को प्रथम रक्खा है और शेष अवतारों का उल्लेख केवल प्रसंगवत् कहीं-कहीं कर दिया है। उन्होंने राम के साथ ही साथ कृष्णावतार की भी कीर्ति गाई है। इससे ज्ञात होता है कि राम के अतिरिक्त यदि वे किसी अन्य अवतार

(१) मीन कमठ सूकर नर हरी । वामन परशुराम वसु धरी । आदि

की भक्ति रखते थे, तो वे कृष्ण ही थे। यथार्थ में वे दोनों को एक ही समझते थे। (२)

भागवत में कृष्ण ही को पूर्णावतार माना गया है और शेष अवतारों को अंशावतार। (३)

किंतु तुलसीदास ने इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया। उनकी दृष्टि में सभी अवतार एक बराबर श्रेष्ठ हैं। तिस पर भी उनकी विशेष भक्ति श्रीरामजी ही के चरणों में थी। हमारा विश्वास है कि मनुष्य के लिये आदर्शरूप केवल तीन अवतार हो सकते हैं : राम, कृष्ण और बुद्ध। यद्यपि हमने अपनी उदासीनता के कारण संसार के अद्वितीय महापुरुष भगवान् बुद्ध को भुला दिया है, किंतु तुलसीदास ने उन्हें नहीं छोड़ा। विनय पत्रिका में अन्य अवतारों के साथ उन्होंने उनकी भी स्तुति की है। (४)

चाहे बौद्ध धर्म अलग धर्म के नाम से भले ही प्रसिद्ध हो गया हो; किंतु हम तो उसे हिंदू धर्म ही की शाखा समझते हैं। जिस प्रकार रामोपासक तथा कृष्णभक्त हिंदू धर्म ही के अन्तर्गत हैं, उसी प्रकार बुद्ध के अनुयायी बौद्ध भी अलग नहीं। बुद्ध-भगवान् भी हमारे लिये राम कृष्ण ही के समान पूजनीय, अनुकरणीय तथा आदर्शरूप होना चाहिये। अस्तु।

(२) जब जदुबंस कृष्ण अवतारा । लीन्हैउ हरन महा महि मारा ॥

(३) एकते चांशकत्ताः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्

(४) प्रबल पाखंड महि मंडलाकुल देखि, निचकृतमखिल मलकर्म
जालं शुद्ध बांधैक धन ज्ञान गुनधाम अज बुद्ध अवतार वन्दे कृपालम्
(विनय० पृष्ठ ५२)

द्वैताद्वैत समन्वय

वह कौन सी शक्ति है जिसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म सगुण प्रतीत होने लगता है तथा जो ब्रह्म और जीव के बीच पर्दा डाल देती है ? वह ईश्वर की माया या प्रकृति है ।

गोसाईं जी ने माया को दो रूपों में वर्णन किया है :—

(१) प्रातिभासिक रूप (२) परमार्थिक रूप । कहीं पहले रूप से उसका वर्णन किया गया है और कहीं दूसरे रूप से । इसी से यह विरोधाभास उत्पन्न होता है । निर्गुण सगुण में भ्रम होना, ब्रह्म जीव की भिन्नता का भ्रम होना आदि सब ही प्रातिभासिक भ्रम के रूप हैं ।

ब्रह्म में असली विकार कुछ नहीं होता, केवल अपने भ्रम ही के कारण हमें ब्रह्म में माया का आभास दीखता है । इसे गोसाईं जी ने इन उदाहरणों से समझाया है:—

रजत सीप महुँ भास जिमि, यथा भानु कर बारि ।

यदपि मृषा तिहुँ काल महुँ, भ्रम न सकै कोउ टारि ॥

×

×

×

चितव जो लोचन अंगुलि लाए ।
 प्रगट जुगल ससि तेहिके भाए ॥
 बालक भ्रमहि न भ्रमहिं गृहादी ।
 कहहि परस्पर मिथ्यावादी ॥

माया के इस स्वरूप में यथार्थता कुछ नहीं है। यहाँ माया का यही अर्थ है कि वास्तव में वह कुछ नहीं है—केवल एक मिथ्यावस्तु का अध्यारोप है जो कि हमारे बुद्धि भ्रम का खेल है। यह मिथ्या आरोप बिल्कुल असत्य है। अतः ब्रह्म माया में लिप्त नहीं है। वह उसमें रह कर भी स्वतन्त्र है। केवल हम अपने अज्ञान से ब्रह्म को माया लीन समझ बैठे हैं।

जिस तरह सोप में रजत का भ्रम तथा रस्सो में साँत का भ्रम होता है उसी प्रकार माया एक भ्रम मात्र है। उसमें अस-लियत कुछ भी नहीं। यही शंकराचार्य का मायावाद है।

इसी भ्रम के कारण जीव भूल कर बंधन में पड़ता है। अपने को माया वश समझ लेने ही के कारण वह फँसकर जन्म मरण के चक्कर में पड़ता है:—

सो माया बस भयेउ गोसाईं । बंध्यो कीर मर्कट की नाँई ॥

यह तो माया का एक स्वरूप हुआ। इसमें माया का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं माना गया।

(२) पारमार्थिक रूप

गोसाईं जी ने माया का इसके विरुद्ध एक दूसरा भी स्वरूप वर्णन किया है। वह है माया का शक्ति रूप। यहाँ गोसाईं जी ने माया को उत्पन्न पालन लय करने वाली ईश्वर की एक शक्ति मानी है। यहाँ उसका एक प्रधान स्थान और निश्चित अस्तित्व है।—‘अजा अनादि सक्ति अविनासिनि ।

जग संभव पालन लय कारिनि । निज इच्छा लीलावपु धारिनि ॥
भव भव विभव पराभव कारिनि । विस्व विमाहिनि स्ववस
बिहारिनि ॥

इसमें माया को स्वतंत्र तथा जग-स्रजक शक्ति कहा है। यह सांख्य का मत है। किंतु तुलसीदास ने माया को बिल्कुल स्वतंत्र न मानकर उसे ईश्वर की एक शक्ति माना है। वह राम ही की शक्ति है और उन्हीं की आज्ञा से संसार को उद्भव तथा प्रलय करती है :—

सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया । पाय जासु बल विरचति माया ॥
एकरचै जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥

अतः यहाँ माया, राम या ब्रह्म की एक शक्ति मानी गई है। माया यहाँ केवल भ्रम मात्र नहीं। उसका अस्तित्व सत्य है तथा उसका दर्जा ब्रह्म की बराबरी का है। ब्रह्म ने रामरूप तथा माया ने साता रूप से अवतार धारण किया था:—

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया । सोइ अवतरहि मोरि यह माया ॥

इस प्रकार गुसाई जी ने माया को दो रूपों में वर्णन किया है—एक प्रातिभासिक और दूसरा पारमाथिक। जो भ्रामक तथा संसार में फँसाने वाला है वह पहली माया है। उसका शक्ति अत्यन्त प्रबल है। भगवान् माया पति हैं और उन्हीं की शरण जाने से उसका बंधन छूट सकता है। यह भक्ति मार्ग का मत है। माया से छूटने का एक दूसरा मार्ग ज्ञान मार्ग भी है जिसमें माया के पर्दे को भ्रामक समझ कर जीव और ब्रह्म को एकता स्थापित की जातो है।

अब इन मतों की एक वाक्यता कैसे हो ? माया का कुछ अस्तित्व है या वह केवल भ्रममात्र है ? इसमें मतभेद है। बहुतों का मत है कि माया एक मन की कल्पना मात्र है। वह एक

आभास है; उसका यथार्थ में कुछ अस्तित्व नहीं, वह एक मिथ्या अध्यारोप मात्र है।

किन्तु पृथ्वी भी तो माया निर्मित है फिर इसका अस्तित्व क्यों है ? हम पृथ्वी के अस्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। फिर तत्त्वज्ञानियों के कहने से असत्य कैसे मान लें ? बहुतों का यहाँ तक मत है कि पृथ्वी का अस्तित्व भी मनोमय है—केवल मानसिक है, यथार्थ नहीं। इसके समर्थन में वे स्वप्न का उदाहरण देते हैं। यद्यपि स्वप्न जगत् में हमें सब वस्तुयें सत्य दिखती हैं किन्तु यथार्थ में उनका बिल्कुल अस्तित्व नहीं रहता। उन्नी प्रकार हमारा जीवन भी एक विशाल स्वप्न है जिसकी सब चीजें भ्रूट हैं; केवल हमारे भ्रम से वे सत्य दीखती हैं।

किंतु जिस चीज का सचमुच में अस्तित्व है वह तो हमेशा रहेगी हाँ चाहे हम उसे सोँचे अथवा न सोचें। हमारे सोचने पर उसका अस्तित्व निभेर नहीं है। गुसाईं जी का यही मत है। वे विश्व को माया निर्मित मानते हुए भी उसके अस्तित्व को भ्रूट नहीं मानते। वे केवल उस माया को भ्रूट मानते हैं जो कि जाँव और ब्रह्म में भेद भाव उत्पन्न करती है।

भक्ति तथा ज्ञान मार्ग वाले माया को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखते हैं। 'ज्ञान' का अर्थ ही यह है कि ब्रह्म और जीव के असली एकत्व रूप को जानना और उनके बीच के माया के पर्दे को असत्य समझना। किंतु भक्ति मार्ग में जीव ब्रह्म की एकता न मानकर उनमें सेवक सेव्य का संबंध समझा जाता है। इस प्रकार इसमें ब्रह्म जीव को अलग २ मानने के साथ ही साथ माया की सत्यता भी मान ली जाती है। यदि यह सत्यता न मानी जावे तो फिर जीव और ब्रह्म एक ही हो जायेंगे और तब फिर सेव्य सेवक का संबंध, जो कि भक्ति मार्ग का मूलाधार

है, कैसे स्थिर रह सकता है ? भक्तिमार्ग केवल माया की सत्यता ही पर विश्वास नहीं करता बल्कि उसे ब्रह्म की बराबरी का पद प्रदान कर देता है। तुलसीदास जी ने तो माया को मातृपद तक दे दिया है। शाक्त मत में तो शक्ति ही को सब प्रधान स्थान दिया ही गया है।

ज्ञान मार्ग में माया ब्रह्म कय के पथ में बाधक समझी जाती है। किन्तु भक्ति मार्ग में वह ब्रह्म की बराबरी का पद पा जाती है। भक्ति मार्ग की एक शाखा ऐसी भी है जो माया को ज्ञान मार्ग्यों ही के समान बाधक समझती है। इन दो भेदों का कारण यह है कि ज्ञान मार्ग में ब्रह्म जीव में भेद उत्पन्न करने वाली माया तथा संसार में फँसाकार त्रिगुणों और विकारों के कारण दुःख देने वाली माया एक ही मानी जाती है। वे लोग माया में उक्त हो भेद नहीं करते। किन्तु भक्ति मार्ग माया के दो भेद कर देता है :—

(१) विद्या-माया अथवा ईश्वर की एक शक्ति समान होकर संसार की रचना करने वाली। [२] अविद्या-माया अथवा गुणों का विस्तार कर भ्रम में फँसाकर संसार में बद्ध करने वाली। इन दो प्रकार की मायाओं को मानस में विद्या और अविद्या इन दो नामों से पुकारा गया है:—

ताकर भेद सुनहु तुम सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा, जा वस जीव परा भव कृपा ॥
एक रचै जग गुन बस जाके, प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके ॥

इसमें पहली अविद्या माया है और दूसरी विद्या-माया। विद्या माया से सृष्टि की उत्पत्ति होती है तथा दूसरी से संसार में जीव को दुःख तथा बंधन होता है। वेदान्त ने माया की दो

शक्तियों का उल्लेख किया है। एक आवरण और दूसरी विज्ञेय।

गोसाईं जी ने विद्या से जगदुत्पादक विज्ञेय शक्ति तथा अविद्या पद से मोह करने वाली आवरण शक्ति का उल्लेख किया है।

भक्ति मार्ग वाले पहली प्रकार की माया को ईश्वर की एक शक्ति समझते हैं किंतु दूसरे प्रकार की माया को वे ज्ञान मार्गियों के समान बाधक समझते हैं। दोनों प्रकार की माया क विषय में जो विरुद्ध मत हैं उसका यही कारण है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों के कारण माया असत्य अथवा सत्य मानी गई है।

कहा जा चुका है कि शंकराचार्य ने माया को प्रातिभासिक तथा भ्रमात्मक माना है। किन्तु रामानुज ने माया निर्मित विश्व को सत्य मान कर सगुण ब्रह्म को विश्वरूप माना है। गोसाईं जीने उक्त दोनों विरुद्ध मतों का समन्वय किया है।

निर्गुण तथा ज्ञान मार्ग का वर्णन करते समय उन्होंने भी माया को भ्रमात्मक माना है। किन्तु भक्ति के प्रदिपादन के समय उसे सत्य तथा ब्रह्म की बराबरी आदरणीय स्थान दिया है। विद्या और अविद्या माया के दो भेद स्वीकार कर लेने पर दोनों मतों का समन्वय हो जाता है।

सारांश, गोसाईं जी ने माया को स्वतंत्र न मान कर उसे राम की एक शक्ति माना है। तथा राम को 'माया पति' 'मायाधीश' 'मायानाहू' आदि शब्दों से संबोधित किया है उन्हीं की इच्छा से माया संसार को रचती है तथा उन्हीं की इच्छा से वह सबको मोह रही है। जब वे ही राम कृपा करें तभी यह माया छूट सकती है। क्योंकि यह उनके अधीन है। भक्ति मार्ग का यही तत्व है।

राम की शरण जाने (भक्ति मार्ग के अनुसार) अथवा अपना ब्रह्मरूप पहिचान लेने पर (ज्ञान मार्ग के अनुसार) फिर माया नहीं व्यापती —

माया संभव भ्रम सब, अब नहिं व्यापहिं तोहिं ।

जानेसि ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहिं ॥

अथवा—सो नर इन्द्रजाल नहिं भूला ।

जापर होय सो नट अनुकूला ॥

इसी माया के बल से :—

उमा दारु जोपित की नाई । सबहिं नचावत राम गोसाईं ॥

गोसाईं जी ने यहाँ तक कहा है कि इसी माया के बल में विरंचि शिव आदि सब हैं । माया को प्रवृत्तता बताने के लिये ही यह कहा गया है । जीव जो दुष्कर्म करते हैं वे सब यही माया कराती है; उनका कोई अपराध नहीं :—

नाथ मोरि नहिं थोरेउ खोरी ॥

अतिसय प्रबल देव तब माया ।

छूटै तबहिं करहु जब दाया ॥

× × ×

बहुराम मायहि सिरु नावा । प्रेरि सतिहिं जेहि भूठ कहावा ॥

राम का सगुण तथा साकार शरीर भी इसी माया से निर्मित है । अपनी माया ही के संयोग से भगवान् निर्गुण से सगुण हुए :

निज इच्छा निर्मित वपु माया गुनगोपार ॥

गीता में भी कहा है—

प्रकृति स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्म मायया ।”

सगुण रूप की यहाँ विशेषता है कि वह भगवान् ने अपनी इच्छा से माया के सहारे धारण किया है और उसमें रह कर भी वे उससे निर्लिप्त रहते हैं ।

जहाँ तक जीव की पहुँच है वह सब माया है; जहाँ किसी की पहुँच नहीं वहीं ब्रह्म है—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई ।

सो सब माया जानहु भाई ॥

इसी अविद्या माया का कटक सारे संसार में अपने “कामादि भट” लेकर सबको जीतता फिरता है। माया रूपी नारि ही उसका प्रत्यक्ष रूप है—नारि विष्णु माया प्रगट ।

संसार के सब गुण दोष इसी अविद्या माया से उत्पन्न होते हैं। इन सब गुणों से अतीत होने पर ही ब्रह्मपद मिलता है।

यहाँ माया के विषय में गोसाईं जी के मत तथा वेदांत मत से एकता तथा अंतर बतला देना आवश्यक है। गोसाईं जी ने जो माया का पहिले प्रतिभासिक रूप बतलाया वह वेदांत ही के अनुसार है। वेदांत में भी माया का सत्य अस्तित्व नहीं माना गया, (१) गोसाईं जी ने माया का जो शक्ति रूप बणन किया है वह शाक्तों को मान्य है। वेदांत के अनुसार माया में आवरण और विज्ञेय शक्तियाँ मौजूद हैं। ब्रह्म की सहयोगी नहीं किंतु प्रतियोगिनी है। वे ब्रह्म के सामने अपना फैलाव फैलाते हैं। वेदांत में ब्रह्म जग की रचना नहीं करता। वहाँ ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों है। गोसाईं जी सांख्य और शाक्त दोनों मतों को मानने वाले थे। शाक्त मत के अनुसार उन्होंने भी माया को “अज्ञा अनादि शक्ति अविनासिनि” तथा सांख्य के अनुसार प्रकृति पुरुष दोनों को अनादि तथा अविनाशी माना है :—

प्रकृति पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

(१) तेजोवारि मृदां यथा विनिमयो — (भाग०)

(२) ब्रह्मसूत्र भाष्य

गोसाँई जी के समान गीता में भी यही माना गया है कि ब्रह्म ही की सहायता से माया पंसार की रचना करती है वेदांत में न माया अनादि है और न उसमें स्वतंत्र शक्ति ही है। सांख्य और वेदान्त में माया त्रिगुणात्मक मानी गई है। (२) गोसाँई जी ने भी माया को ऐसा ही माना है। वेदांत के अनुसार उन्होंने भी ब्रह्म को त्रिगुणातीत विकारों से परे निर्लिप्त तथा शुद्ध सच्चिदानंद माना है। उपनिषदों में भी माया को अज्ञा और जगत् को उत्पत्ति कर्त्ता माना है। (३)

ब्रह्म और जीव

माया के किये हुए इन दो भेदों—ब्रह्म और जीव का भी वर्णन करना यहाँ आवश्यक है।

गोसाँई जी ने जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में तीन परस्पर विरोधी बातों का उल्लेख किया है:—

१—ईश्वर जीव एक ही है। केवल माया के पर्दे के कारण वह अपने को भिन्न समझने लगता है:—

सो मैं तोंहि ताहि नहिं भेदा ।

माया ईश न आपु कहँ जानि कहे सो जीव ।

बंध मोक्ष प्रद सब पर माया प्रेरक सीव ॥

माया ईश्वर की दासी है न कि उसकी स्वामिनी। किंतु जो अपने को माया का प्रभु न समझ कर उसके चक्र में फँस जाता है उसी को जीव की पदवी दी जाती है। असल में जीव ब्रह्म ही है; किंतु जीव अपनी उक्त समझ ही के कारण जीवत्व

(२) ब्रह्माश्रया माया त्रिगुणात्मिका कृतिनामाऽस्ति । (तत्त्व बोध)

(३) अत्रोमेकां लोहितशुक्लवर्णां चतुः प्रजाः उत्पन्नानि ———

को प्राप्त होता है। अपनी भूल समझ लेने तथा ब्रह्म से एकता का अनुभव कर लेने पर जीव ब्रह्म हो जाता है।

यह मत ज्ञान मार्ग का है। ज्ञानी लोग अपने को ईश्वर ही का रूप जान कर ब्रह्मत्व के प्राप्ति का अनुभव करते हैं। अद्वैत वेदान्त का यही मत है।

२—दूसरा यह मत है कि जीव ईश्वर का रूप नहीं किंतु उसका एक अंश मात्र है—जीव ब्रह्म में अंश और अंशी का संबंध है। यथा:—

“ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखराशी।

“सो माया बस भयेउ गुसाई। बँध्यो कीर मरकट की नाई।

इस मत में तथा पहले मत में कुछ बहुत अंतर नहीं है। असल में यह मत भी उक्त मत की पहली सीढ़ी के समान है। यह मत ज्ञान तथा भक्ति दोनों मार्गों का संयोग है। ज्ञान मार्ग वाले पहिले जीव को ईश्वर का एक अंश मात्र समझ कर धीरे-धीरे उसे पूर्ण ब्रह्म रूप समझने लगते हैं। भक्ति मार्ग वाले भी इन मत के अनुसार अपने को अपने प्रभु का एक अंश मात्र समझ कर उसकी उपासना के द्वारा उसी में मिल जाते हैं।

क्रिश्चियन धर्म में जीव-ईश में पिता पुत्र का संबंध माना गया है। वह भी इसी मत के अंदर आता है। पुत्र पिता का ही अंश है; इसी तरह जीव भी ब्रह्म का अंश है।

प्रभु इसा मसीह ने कहा था :—*I and my father are one. I am in my father and you are in me*”

अर्थात् “मेरा पिता और मैं एक ही हूँ। मैं अपने पिता में हूँ तथा तुम मुझमें हो।”

बिशिष्टाद्वैत में यही मत माना गया है। इस मत के अनुसार जीवों की अनेकता और परवशता तथा ब्रह्म की एकता और स्ववशता मानी जाती है:—

ज्ञान अखंड एक सीतावर ।

माया बस्य जीव सचराचर ॥

माया बस्य जीव अभिमानी ।

ईस बस्य माया गुन खानी ॥

२—तीसरा मत यह है कि जीव और ईश्वर बिल्कुल अलग-अलग हैं । भक्ति के द्वारा जीव उन तक पहुँच सकता है । वह ईश कृपा से माया बंधन से मुक्ति तथा ईश्वर के समीप निवास पा सकता है—“मम समीप नर पावहिं वासा ।” भक्ति मार्ग में यही मत मुख्य माना जाता है । बिना ईश्वर जीव की भिन्नता माने भक्ति मार्ग चल ही नहीं सकता । ईश्वर को अपने से अलग तथा अपना स्वामी मानना—सेवक-सेव्य भाव ही—भक्ति मार्ग का मूल तत्व है । जहाँ ब्रह्म जीव एक ही हैं वहाँ सेवक सेव्य, अराधक और अराध्य कैसे हो सकता है ?

कागभुशुंडि के मत में इसी द्वैतवाद की आया है :—

“माया बस प्रच्छन्न जड़ जीव कि ईस समान ।”

तीनों मतों की एकता

गोसाई जी ने उक्त तीनों मतों की एकता स्थापित कर उनके संयोग से एक नये मत का आविष्कार कर दिया है । वह एकता निम्न प्रकार से स्थापित की गई है ।

असल में ब्रह्म एक ही है । किन्तु माया वश वह अपने को अलग समझने लगता है । अतः ब्रह्म से एकता करने के लिये दो उपाय हैं :—

१—अपने को ब्रह्म ही का रूप अथवा उसका अंश समझ-

कर उससे एकता का अनुभव करना (ज्ञान मार्ग)
 “सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा ।”

१—अपने को ईश्वर का सेवक समझ कर उसकी भक्ति के द्वारा उसी में मिल जाना अथवा उसके समीप वास पाना ।

भक्ति और ज्ञान

भिन्न-भिन्न रुचियों के अनुसार गोसाईं जी ने भिन्न-भिन्न लोगों के लिये उक्त दो मतों का विवेचन किया है । ईश्वर की अद्वैतता तथा जीव ईश की एकता मानते हुए भी उन्होंने भक्ति मार्ग को प्रधानता दी है । “सेवक सेव्य भाव” को ही उन्होंने सर्व प्रधान माना है:—“सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरि उरगारि” ।

गोसाईं जी का मत भक्ति मार्ग के पक्ष में था । किंतु जो ज्ञान मार्ग का अनुसरण करना चाहते हैं उनके लिये भी गोसाईं जी ने रास्ता दिखलाया है । ज्ञान और भक्ति को समता के स्थान पर रखते हुए भी उन्होंने भक्ति को श्रेष्ठता दी है ।

भक्ति मार्ग का अनुसरण दो प्रकार से किया जाता है:—

१—ईश्वर को अपना स्वामी मान कर उसकी भक्ति करना और अंत तक इसी प्रकार समझते रहना ।

२—पहिले अपने को ईश्वर का सेवक फिर उसका अंश और फिर उसी का रूप समझ कर उसी में मिल जाना । इस मत में उक्त तीनों-अद्वैत-द्वैत-द्वैत और द्वैत-मतों का मेल हो जाता है ।

इनके अतिरिक्त गोसाईं जी ने एक तीसरे प्रकार के ज्ञानीभक्तों का भी उल्लेख किया है जो कि पूरे ज्ञानी होकर भी, जीव ब्रह्म की एकता समझते हुए भी, भक्ति मार्ग में रत रहते हैं; अपने को ईश्वर जानते हुए भी सेवक सेव्य भाव को ही श्रेष्ठ समझते हैं ।

सुतीक्ष्ण आदि ऐसे ही ज्ञानी थे । गोसाईं जी इसी प्रकार के भक्त थे । यह मत गोसाईं जी का विशेष मत है । उन्होंने बड़ी युक्ति के साथ द्वैत अद्वैत का समन्वय किया है । उन तीनों मतों का इस श्लोक में योग्यता के साथ वर्णन किया गया है । जब हनुमान जी से पूछा गया कि तुम कौन हो तब उन्होंने उत्तर दिया :—

“देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः ।

वस्तुतस्तु त्वमेवाहं इति मे निश्चिता मतिः ॥

अर्थात्—यदि देह की दृष्टि से पूछते हो तो मैं तुम्हारा दास हूँ । अगर जीव की दृष्टि से पूछते हो तो मैं तुम्हारा अंश हूँ और यदि यथार्थ बात पूछते हो तो जो तुम हो सो मैं हूँ; हम तुम में कुछ अन्तर नहीं । केवल समझ का अन्तर है । असल में जीव ब्रह्म एक ही है । जब तक जीव अपने को माया का ईश्वर नहीं समझता तभी तक इसका नाम जाव है । अन्यथा उसका ईश्वर या ब्रह्म नाम हो जाता है । संक्षेप में जीव ईश का भेद गोसाईं जी ने इन शब्दों में किया है :—

“माया ईश न आपु कहै जानि कहै सो जीव ।”

ईश्वर अर्थात् मालिक—असल में जीव ईश्वर ही है; वह माया का मालिक है—पर जब तक वह अपने को ऐसा नहीं समझता, तब तक वह ईश्वर न कहलाकर जीव कहलाता है । ईश्वरत्व केवल माया पर अपना ईश्वरत्व समझने में है । उसके समझने में फेर है । इसी समझ के फेर के कारण को जीव की उपाधि मिलती है । यह जीव नाम माया निर्मित अतः भ्रूट है; पर तब तक माया बनो है जब तक वह सब ही के समान है । जीव ईश में दो भेद हैं :—

परवस जीव स्ववस भगवंता ।

जीव अनेक एक श्रीकंता ॥

जब तक परवशत्व और अनेकत्व की भावना है तभी तक जीवत्व है अन्यथा यह ईश्वर ही है ।

शंकराचार्य और तुलसी

शंकराचार्य का अद्वैत मत गोसाईंजी का आधार था । उनसे उनका इतना मतभेद था कि शंकर तो सगुण ब्रह्म को केवल माया निर्मित तथा प्रातिभासिक मानकर उसे नीचा स्थान देते थे; किंतु तुलसीदास इस सगुण रूप को निर्गुण रूप की बराबरी का स्थान देते थे । सगुण निर्गुण दोनों ही को वे ब्रह्म के दो स्वरूप मानते थे । माया निर्मित मानते हुए भी तुलसीदास सगुण रूप को कभी कभी निर्गुण रूप की अपेक्षा अधिक महत्व देते तथा उमी की उपासना करते थे:—

निर्गुन रूप सुलभ मति सगुन न जानै कोय ।

रामानुज और तुलसी

रामानुज सगुण ब्रह्म को परमार्थिक मानते थे (शंकर के समान प्रातिभासिक नहीं) दोनों ही सगुण ब्रह्म पर विश्वास करते और उनकी कृपा पर निर्भर रहते थे । अतः इस आशय में तुलसी का मत विशिष्टाद्वैत के समान है ।

धीरे-धीरे रामानुज के अनुयायियों के दो दल हो गये । एक दल यह मानता था कि स्वयं जीव ही ब्रह्म से संलग्न रहे तभी उसका निस्तार है (जैसे बन्दर का बच्चा उससे चिपटा रहता है) । दूसरा दल यह विश्वास करता था कि जब ईश्वर ही उसे अपनी ओर खींचे रहे (जैसे कि बिल्ली अपने बच्चे को चिपकाये रहती है) तभी जीव तर सकता है । तुलसीदास इसी दूसरे सिद्धांत के मानने वाले थे । उनका विश्वास था कि जब ईश्वर की कृपा होती है तभी जीव उसकी ओर आकर्षित होता है । बिना ईश्वर कृपा के कुछ नहीं हो सकता ।

तुलसी का शंकर और रामानुज दोनों से मतभेद

शंकराचार्य ब्रह्म और जीव को एक ही मानते थे। उनकी अद्वैत दृष्टि में जीव का ब्रह्म के सिवा अलग अस्तित्व नहीं : “जीवो ब्रह्मेव नापरः”। अतः इस मार्ग में “अहं ब्रह्मास्मि” “शिवोहं” के सिवा दामभावात्मक भक्तिमार्ग को स्थान ही नहीं है। उधर रामानुज इसके विरुद्ध यह मानते थे कि जीव और ब्रह्म सदा भिन्न हैं। भक्ति ही से जीव ब्रह्म के पास पहुँच सकता है, सामीप्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। रामानुज का सिद्धांत मानने से ज्ञान को और शंकर का अद्वैतवाद मानने से भक्तिमार्ग को स्थान नहीं रह जाता था।

अतः गुसाईं जी ने उक्त दोनों मतों में एकता स्थापित करने के लिये एक नया सिद्धांत स्थापित किया जिसमें शंकर का अद्वैतवाद भी स्थिर रहा और रामानुज का भक्तिमार्ग भी ज्यों का त्यों बना रहा। गोसाँई जी ने दोनों आचार्यों के सिद्धांत को माना। उन्होंने ज्ञान और भक्ति दोनों सिद्धांतों को मानकर उनमें एकता स्थापित की। ज्ञान में अद्वैतवाद को मानकर उन्होंने शंकर के सिद्धांत को स्थिर रक्खा और भक्ति में जीव ईश्वर की भिन्नता को मानकर रामानुज के मत को मान दिया।

ज्ञानमार्ग में शंकर का अद्वैतवाद ज्यों का त्यों रहता ही है, किन्तु भक्तिमार्ग में थोड़ी देर के लिये जीव ईश्वर से भिन्न मान लिये जाते हैं; किन्तु अन्त में मुक्ति के समय दोनों का मेल हो जाता है। फिर अद्वैतवाद ज्यों का त्यों स्थापित हो जाता है।

रामानुज सगुण ब्रह्म को विश्व रूप मानते थे। तुलसी भी उसे ईश्वर से एक रूप समझ उसकी सेवा को अपना धर्म समझते थे। सबजीव ईश्वर रूप हैं; केवल मैं ही सेवक हूँ :— मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।

रामानुज का सिद्धांत था कि जीव के मुक्त हो जाने पर उसे ब्रह्म के समीप स्थान (सामीप्य) मिलता है किंतु तुलसीदास मुक्ति के बाद जीव का ईश्वर में लीन हो जाना मानते थे यद्यपि सगुणोपासकों के लिये उनकी सम्मति में इस मुक्ति की अपेक्षा भक्ति ही अधिक वरणीय है:—

सगुण उपासक मुक्ति न लेहीं ।

तिन कँह राम भगति निज देहीं ॥

सारांश, गोसाई जी न तो शंकराचार्य के समान जीव और ब्रह्म को एक मानते और न रामानुज के समान ब्रह्म, जीव को सर्वेदा अलग अलग । उनका सिद्धांत था कि जब तक ब्रह्म जीव के बीच माया है तब तक दोनों अलग अलग हैं । किंतु भक्ति से ईश्वर को प्रसन्न कर लेने अथवा ज्ञान से अपना स्वरूप पहचान लेने पर, जीव ईश्वर ही में मिल जाता है । मुक्ति के भी उन्होंने चार भेद माने हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, तथा सायुज्य उदाहरण :—

हरिपुर गयेउ परम बड़ भागी । (सालोक्य)

मम समीप नर पावहिं वासा । (सामीप्य)

गीध देह तजि धरि हरि रूपा । (सारूप्य)

तजि जोग पावरु देह हरिपद लीन भइ जहं नहिं फिरे ।

(सायुज्य)

दर्शन सम्बन्धक

तत्त्व विभाग

षट् दर्शनों के क्रम विकास का वर्णन पिछले भाग में हो चुका है। न्याय, मुख्यतया तर्क प्रणाली है। वैशेषिक, द्रव्यों के गुण धर्मों का विवेचन करता है। पूर्वर्माभासा का मुख्य विषय कर्मकांड है। योग, वित्त निराध के लिये माधन और सिद्धियों का निदर्शन कराता है। सांख्य, संसार के मूलभूत तत्वों और गुणों की संख्या का परिगणन कराता है तथा वेदांत ब्रह्म जीव और जगत् की अद्वैतता प्रतिपादन करता है।

गोसांई तुलसी दास जी ने इन सभी दर्शनों का उपयोग किया है किन्तु अपना मूलाधार सांख्य और वेदांत पर रक्खा है। न्याय के अनुसार तर्कों का प्रयोग मानस में स्थान २ पर किया गया है। वैशेषिक के द्रव्यों और गुणों का भी उल्लेख हमें मिलता है। मोमांसा के कर्मकांड को अपने युग के लिये अनुपयोगी समझ उन्होंने छोड़ दिया है। यद्यपि उन्होंने योग की क्रियाओं और सिद्धियों को भी कष्ट साध्य समझकर उनकी

उपेक्षा की है तो भी उसमें वर्णित यम नियमों को अपने भक्ति मार्ग में बहुत महत्व दिया है; प्रत्याहार (इन्द्रियों को विषयों से अलग रखना) की आवश्यकता मानी है; धारणा, ध्यान समाधि का भी भक्ति की पराकाष्ठा के लिये उपयोग किया है। सांख्य के अनुसार तत्त्व विवेचन, संसार की उत्पत्ति तथा प्रलय संबंधी सिद्धांत उनको मान्य है। वेदांत प्रतिपादित अद्वैतवाद तथा मायावाद से उनका मतैक्य सब से अधिक है।

अब हम मानस पर इन दर्शनों के प्रभाव का दिग्दर्शन कराने के लिये कुछ प्रमाण उद्धृत करेंगे। असल में इन दर्शनों ने भी एक दूसरे के सिद्धांतों को स्वीकार उसके आगे अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है।

इन दर्शनों में मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं :—

- १ जीव क्या है ?
- २ ईश्वर का स्वरूप।
- ३ संसार की उत्पत्ति तथा उसका स्वरूप।

अतः हम इन्हीं का विवेचन करते हुए इस पर विचार करेंगे कि तुलसी दास जी की विचार धारा में इनके सिद्धांतों को किस प्रकार समन्वय हुआ।

जीव

न्याय और वैशेषिक ने प्राण, (सांस छोड़ना) यान (सांस खींचना) नेत्र खोलना, बंद करना, मन, गति, इन्द्रियाँ, अन्त-र्विकार, सुख दुःख, द्वेष, प्रयत्न, ये सब जीव के लक्षण माने हैं। (१)

(१) प्राण यान निमेषोन्मेषमनोगतीन्द्रियान्तः विकाराः

सुखदुःखेष्वाद्देवौ प्रयत्नंचात्मनो क्षिणानि (न्याय सूत्र)

ये लक्षण सभी दर्शनों ने स्वीकार किये हैं तथा वैज्ञानिकों ने भी इन्हें माना है। तुलसी दास जी को भी ये मान्य थे।—

सांख्य ने जीव को पुरुष नाम से पुकारा है तथा इस प्रकार उसके लक्षण बतलाये हैं :—

पुरुष अनादि, गुण रहित, सूक्ष्म, देश कालादि से परे, अज अमर, नित्य, निष्कलंक, दृष्टा, इन्द्रिय, मन बुद्धि से परे, विमुक्त, सुख दुःख से अतीत है। इनकी संख्या अनेक हैं।

इसके अतिरिक्त सांख्य ने एक लिंग शरीर का भी वर्णन किया है जो कि सुख दुःख का भोक्ता तथा मन बुद्धि अहंकार आदि १८ तत्त्वों से बना है। न्याय के जीव तथा सांख्य के लिंग शरीर के लक्षण एकसे मिल जाते हैं।

जिसे सांख्य ने पुरुष कहा है उसी को वेदांत ने “आत्मा” कह कर वर्णन किया है। वह भी उपाधिरहित, निर्लेप, इन्द्रियों के परे प्रकाशमान अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य, नित्य, सूक्ष्म तथा सर्व व्यापी है। अंतर केवल यही है कि पुरुष अनेक किंतु आत्मा एक ही मानी गई है। सांख्य के लिंग शरीर के समान वेदांत में “सूक्ष्म शरीर” का वर्णन है जो कि १७ तत्त्वों से बना हुआ बताया गया है। इस प्रकार न्याय वैरोषिक का जीव, सांख्य का लिंग शरीर और वेदान्त का “सूक्ष्म शरीर” एक ही सिद्ध होते हैं।

तुलसी दास जी ने इसे ‘जीव’ कहा है और प्रायः इसी प्रकार के गुण धर्म वर्णन किये हैं और उन्हें सांख्य के पुरुष के समान अनेक माना है :—

हरष विषाद ज्ञान अज्ञाना ।

जीव धरम अहमिति अभिमाना ॥

जीव अनेक एक श्री कंता ।

ईश्वर—न्याय वैशिष्टिक के अनुसार ईश्वर सगुण है। उसमें सत्य दया बल तथा ज्ञान चरम सीमा पर पहुँचे हुए हैं। वही संसार का कर्त्ता रक्षक तथा अधिष्ठाता है; वही कर्मानुसार फल प्रदाता है। सांख्य में ईश्वर के संबंध में केवल यही कहा है कि सगुण ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। (२) योग में क्लेश कर्म विपाक आदि से अस्पृष्ट पुरुष विशेष ही को ईश्वर माना है। (३)

इससे जान पड़ता है कि सांख्य के अनेक पुरुषों की कल्पना ही को योग शास्त्र ने आगे बढ़ाकर प्रतिपादन किया है कि योगाभ्यास द्वारा सिद्धि प्राप्त करने पर जो पुरुष कर्मादि के बंधन से ऊपर उठ सके वही ईश्वरत्व को पहुँच सकता है।

वेदान्त में जो आत्मा के गुण धर्म हैं वही परमात्मा के भी माने गये हैं क्योंकि उसमें दोनों का अभेद प्रतिपादन किया गया है। वह अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचश्रु, निरिन्द्रिय नित्य, सूक्ष्म, सर्वगत, तथा अव्यय है। (४) न्याय ने केवल सगुण ईश्वर माना, सांख्य ने उसका निषेधकर केवल निर्गुण ईश्वर की ओर इशारा किया। (५) योग ने उसे पुरुष विशेष

(२) सगुण ईश्वरासिद्धेः (सांख्य सूत्र)

(३) क्लेशकर्मविपाकाशयैः परास्पृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः । (योग सूत्र)

(४) यत्तददृश्यमग्रं ह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु

शोत्रपाणिनाद नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं

तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

(५) बहुत लोग सांख्य को निरीश्वर वादी भी मानते हैं।

कहा और वेदान्त ने उसके निर्गुण सगुण दोनों रूप मानकर दोनों से भी परे बताया। इस प्रकार ईश्वर की कल्पना में हमें इन दर्शनों में क्रम विकास मिलता है।

तुलसीदास जी ने वेदान्त ही के अनुसार ईश्वर के लक्षण माने हैं जिनकी चर्चा “निर्गुण सगुण समन्वय” में की गई है।

(पृ० ६८-७२)

विश्व की उत्पत्ति

संसार की उत्पत्ति के विषय में भी हमें यह क्रम विकास दृष्टिगोचर होता है। न्याय वैशेषिक परिमाणुओं के द्वारा संसार की उत्पत्ति मानते हैं। सांख्य ने संसार की उत्पत्ति में पुरुष को केवल दृष्टा मानकर प्रकृति के विकारों द्वारा संसार की उत्पत्ति मानी है। पहले बुद्धि, फिर अहंकार, फिर तन्मात्राएं और फिर १६ विकारों (पांच ज्ञानेन्द्रियों पांच कर्मेन्द्रियों, मन तथा पंच महाभूतों) की उत्पत्ति मानी है। संसार उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति में सतरज सम तीन गुणों का साम्य रहता है। गुणलोभ उत्पन्न होने पर ही उत्पत्ति होती है। वेदान्त, सांख्य का परिणामवाद स्वीकार करते हुये भी प्रकृति की सत्ता को अलग नहीं मानता। गीता ने प्रकृति और पुरुष को अनादि मानकर इसी सांख्य सिद्धांत को स्वीकार किया है। किंतु वेदांत प्रकृति पुरुष से उत्पन्न संसार की यथार्थता नहीं मानता—उसको सत्ता मनोमय या कल्पनात्मक मानता है। इसकी चर्चा गत अध्याय में हो चुकी है।

सांख्य ने न्याय वैशेषिक के परमाणुवाद के स्थान पर परिणामवाद की स्थापना की जिसे वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है। वेदांत ने इसके स्थान पर मायावाद का प्रतिपादन किया। काण्ड सेटो पाइथैगोरस आदि विद्वानों ने संसार की मनोमय सत्ता का प्रतिपादन किया है।

तुलसीदास जी ने सांख्य के अनुसार प्रकृति की अलग सत्ता मानकर उसी के द्वारा संसार की उत्पत्ति मानी है ।

अखिल विश्व यह जेहि उपजाया ।

सो अवतरिहि मोरि यह माया ॥

“माया” वेदांत का शब्द है किन्तु कहीं-कहीं तुलसीदास जी ने उसकी स्वतंत्र सत्ता मानकर प्रकृति के अश्व में प्रयोग किया है और कहीं ज्ञान को ढाँपने वाली माया के अर्थ में । उन्होंने सब दर्शनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है । कहीं सांख्य के अनुसार प्रकृति को अलग मानकर उसके द्वारा संसार की उत्पत्ति तथा नाश बतलाया है, तो कहीं वेदान्त के अनुसार उसे माया ‘स्वप्न भ्रम’ तथा रजतसीप के समान मिथ्या माना है :—

जेहि जाने जग जाइ हेराई ।

जागे जथा सपन भ्रम जाई ॥

×

×

रजत सीप मँह भास जिमि

यथा भानुकर वारि ॥

एक प्रबल अतिसय दुख रूपा ।

जा बस जीव परा भवकूपा ॥

अध्यात्म रामायण ने भी इसी प्रकार का भेद किया है :—

रूपेद्वे निश्चते पूर्वे मायायाः कुलभेदतः

विक्षेपा वरणेतत्र प्रथमं कल्पते जगत् ।

अपरं त्वखिलं ज्ञानरूप मावृत्य तिष्ठति ॥

जीव और ब्रह्म

इसी प्रकार जीव और ब्रह्म के विषय में भी भिन्न २ दर्शनों के सिद्धांतों का समन्वय करना तुलसीदास जी को इष्ट था ।

न्याय के जीव सांख्य के पुरुष और वेदांत की आत्मा इन तीनों का समन्वय किस प्रकार हो ? एक बात में तो एकता है ही कि जीव और पुरुष दोनों अनेक हैं । किंतु वेदांत कहता है कि आत्मा एक है । इन दोनों का मेल होना जरा कठिन है । किन्तु उसका एक उपाय हो सकता है । जीव पुरुष और आत्मा के कुछ लक्षणों में एकता है । अतः जीव को ब्रह्म का अंश क्यों न कह दिया जावे ? यही उपाय गीता ने सुझाया और प्रतिपादन किया कि जीव ईश्वर का अंश है ।—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

इसी को तुलसीदास जी ने भी अपने शब्दों में कह दिया—

“ईश्वर अंस जीव अविनासी ।”

अंतर यही है कि जीव परवश और ईश स्ववश है जीव अनेक और ईश एक है । (६) जब जीव अपनी परवशता तथा अनेकता पर विजय प्राप्त कर स्ववशता तथा एकता का अनुभव करता है तभी वह ईश्वर से एकरूप हो जाता है ।

वेदान्त ने तो आत्मा को जीव और ईश्वर दोनों ही के परे माना है । (७) तथा जीव को शरीराभिमानी और ईश्वर को ब्रह्मांडाभिमानी माना है । (८) तुलसीदास जी ने जीव तथा ईश्वर दो ही को स्वीकार किया है । इसमें कोई अधिक अन्तर नहीं

(६) परवस जीव स्ववस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ।

(७) जीवेश्वराभ्यां भिन्नः सच्चिदानन्दस्वरूपो

यस्तिष्ठति स आत्मा—(शंकरःतत्त्वबोध)

(८) तत्तच्छरीराभिमानी जीवः

अनंत ब्रह्मांडाभिमानी ईश्वरः (वही)

होता क्योंकि माया ही के द्वारा भेद की कल्पना होती है । ()
वेदांत ने भी माया की उपाधि से मुक्त-आत्मा को ईश्वर तथा
अविद्या की उपाधि से युक्त आत्मा को जीव माना है । (१०)

किन्तु यथार्थ में दोनों एक ही हैं—चाहे शंकराचार्य के
अनुसार जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब माने (११) अथवा गीता
तथा मानस के अनुसार जीव को ईश्वर का अंश माने,
अतंतोगत्वा दोनों की एकता में कोई अंतर नहीं पड़ता ।

वेदांत के सिद्धांत और तुलसीदास जी के सिद्धांत में जो
भेद है वह इन्हीं दोनों की तुलना से स्पष्ट हो जावेगा । वेदांत
संसार को केवल कल्पना मानता है (कल्पते जगत्) और तुलसी-
दास जी उसकी प्रकृति या विद्या माया के द्वारा रचित मानते हैं ।
(एक रचे जग गुन वस जाके) केवल कल्पित करने और यथार्थ
में रचे जाने में बहुत अंतर है ।

वेदांत ही के अनुसार भी यदि देखें तो यद्यपि संसार
स्वप्न भ्रम या असत्य है तो भी स्वप्न काल में वह सत्य के समान
ही प्रतीत होता है । इसलिये उसे सत्य भी मान कर चलने में
हानि नहीं है; क्योंकि “यद्यपि असत्य देत दुख अहई” तथा

(९) आत्मन्येव ऽ विद्य मायाभ्यां

जीवेश्वरभेददृष्टिः कल्पिता । (वही)

मुधाभेदयद्यपि कृत माया मानस ।

(१०) मायोपाधिः सत्त्वारमा ईश्वर उच्यते ।

अविद्योपाधिः सत्त्वारमा जीव इत्युच्यते (वही)

(११) जीव नामकं ब्रह्म प्रतिबिम्बं भवति (वही)

“यद्यपि मृषा तिहुँ काल में भ्रम न एकै कोउ टारि ।” दूसरे वह जिसकी सत्यता से सत्य भासित हो रही है उसी की कृपा से वह भ्रम भिट सकता है—

जासु सत्यता तें जड़ माया ।
भास सत्य इव मोह सहाया ॥
जिहि जानें अस भ्रम भिट जाई ।
गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥
जेहि जाने जग जाय हेराई ।
जागे जथा सपन भ्रम जाई ॥ (१२)

अथवा—“यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जो यथाहेभ्रमः ।”

त्रिकाल में सत्य हो वही असली सत्य माना गया है । इस दृष्टि से केवल आत्मा ही सत्य तथा उसके अतिरिक्त सब असत्

(१२) कई जोग उक्त चौपाइयों का दूसरा अर्थ इस प्रकार करते हैं:—

“पहिले भाया का लक्षण बता कर आगे उसके दो भेद किये गये—

एक विद्या और ‘अरर अविद्या दोऊ’ अर्थात् माया का दूसरा भेद है—‘दोऊ अविद्या’ दोनों प्रकार की ‘अविद्या ।”

(तुलसी ग्रंथावली: तृतीय खंड में श्री गिरधर शर्मा लिखित गोस्वामी जी के दार्शनिक विचार)

किन्तु इसमें गोस्वामी जी के सभी विचारों को वेदांतानुसार सिद्ध करने का प्रयत्न ही जान पड़ता है ।

व्यवहार दृष्टि में वेदान्त भी संसार की रचना स्वीकार करता है—
आकाशः सम्भूतः पृथिवी समजायत् आदि (शंकरः तत्त्व बोधः)

है । (१३) जगत् केवल वर्तमानकाल ही में सत्य है इसी कारण यथार्थ में वह असत्य माना गया है । (१४)

अतः जिस प्रकार निर्गुण रूप पर ध्यान रख कर सगुण को पूजने का आदेश है उसी प्रकार संसार की असत्यता जानते हुए भी व्यवहार में उसे सत्य मान कर ही कार्य करना पड़ता है । इसी तरह इन दोनों परस्पर विरोधी बातों का समन्वय किया जा सकता है ।

श्रीमद्भागवत में इस सत् और असत् रूप का अच्छा समन्वय कराया गया है । उसमें भी माना गया है कि ईश्वर ही की सत्ता से यह जगत् असत् होकर भी सत् के समान प्रतीत होता है । आत्मा की सत्ता के कारण ही यह भी सत्य है । ईश्वर कृत तथा ईश्वर प्रविष्ट होने के कारण जगत् भी ईश्वर रूप है ।

उपनिषदों में भी इसी प्रकार की परस्पर विरोधी दीखने वाले वाक्य मिलते हैं । एक जगह कहा कि यह सब संसार पहिले असत् था और उसी से सत् उत्पन्न हुआ । (१५) और

(१३) कालत्रयेऽपि तिष्ठतीहि आत्मासत्—तत्त्वबोध ।

(१४) ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या —तत्त्वबोध ।

सदिव मनस्त्रिवृत्यपि विभात्यसदामनुजात् ।

सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।

न हि विकृतिं भ जन्ति कनकस्य तदात्मतया

स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मयावसितम् ॥ (भागवतः वेदस्तुति १०-

८७-१६

(१५) असद्वाद्दमप्र आसीत् ततो वै सद्जायत ।

कभी कहते हैं कि असत् से कभी सत् उत्पन्न हो सकता है। (१६)

इस प्रकार के वाक्यों का सामंजस्य इसी प्रकार हो सकता है कि “जब हम निरपेक्ष ब्रह्म का विचार कर रहे हैं और जगत् को उसका एक अशाश्वत रूप मानते हैं तब हम विवर्त-वाद से काम लेते हैं। जब हम अपनी दृष्टि को प्रत्येक कल्प में आवद्ध न रख कर जगत् के पुनः पुनः उत्पन्न होने और लीन होने का दृश्य देखते हैं तब वह परिणामवाद होता है; और जब प्रत्येक कला में अपनी दृष्टि को परिसीमित करते हैं तब आरंभवाद ग्रहण करते हैं।” (१७)

न्याय दर्शनशास्त्र तथा तुलसी

मानस में न्याय के प्रमाणों (प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द) प्रमेयों (आत्मा शरीर इन्द्रियां, मन, बुद्धि, फल, दुःख, अपवर्ग) का उल्लेख हमें स्थान २ पर मिलता है।

वैशेषिक

इसका मत भी मानस में पाया जाता है। इस मत में परिमाणुओं से पृथ्वी की रचना मानी गई है तथा काल ही सर्व प्रधान रक्खा गया है। यथा :—

कुंड कटाह अमित लयकारी।

काल सदा दुरतिक्रम भागी ॥

(१६) कथमसत्तात् सजायेत ।

(१७) श्रीराम स्वामी शास्त्री—गीता में तत्त्वों और सिद्धियों का समन्वय साधन (कल्याण—साधना क पृ० १९८)

योगशास्त्र

योग में यम नियम प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधि यह संपदा योग की साधक मानी गई हैं । इनको मानस में अनेकों जगह उल्लेख है यथा :—

“करहिं जोग जोगी जेहि लागी ।”

“जोगिन परमतत्व मय भासा ।

“पावा परम तत्व जनु जोगी ।” इत्यादि

उत्तर कांड के ज्ञान दीपक में योग की क्रियाओं का अच्छा वर्णन है । उसका यहाँ उल्लेख करना अनावश्यक है ।

सांख्य

सांख्य शास्त्र के आचार्य कपिलदेव २४ अवतारों में से एक माने गये हैं । उनका उल्लेख गोसाईं जी ने यों किया है :—

“आदि देव प्रभु दीन दयाला । जरठ धरेउ जेहि कपिल कृपाला ॥
सांख्य सख जिन प्रगट बखाना । तत्व विचार निपुन भगवाना ॥

सांख्य में प्रकृति ही सृजक मानी गई है । पावेंती की स्तुति में गुसाईं जी ने इस मत का उल्लेख किया है । इसमें सांख्य के साथ शक्त मत का भी मिश्रण है :—

अजा अनादि सक्ति अविनासिनि ।

जगसंभव पालन लय कारिनि । निज इच्छा लीला वपु धारिनि ॥
नहि तव आदि मध्य अवसाना । अमित प्रभाव वेद नहिं जाना ॥
भवभवविभव पराभवकारिनि । विश्व विमोहिनी स्ववसविहारनि ॥

सांख्य के पंच महाभूतों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—

द्विति जल पावक गगन समीरा । पंच रचित यह अधम सरीरा ॥

सांख्य के भी दो विभाग हो गये—एक सेश्वरी दूसरा निरीश्वरी । दूसरा मार्ग प्रकृति ही को सर्व समर्थ और सृष्टि कारक मानता है; और पहला मार्ग पुरुष को अधिष्ठाता या दृष्टा मानता है और पुरुष की अध्यक्षाता में प्रकृति अपना विस्तार करती है, ऐसा विश्वास करता है गोसाईं जी इसी मत के मानने वाले थे :—

सुति सेतु पालक राम तुम जगदीस माया जानकी ।

जो सृजति जग पालति हरति रुख पाय कृपानिधान की ॥

×

×

×

गगन समार अनल जल धरनी ।

प्रभु प्रेरित माया उवजाए । सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाये ॥

×

×

×

एक रचै जग गुन बस जाके ।

प्रभु प्रेरित नहिं निज बल जाके ॥

ईश्वर को एक तथा प्रकृति को उसके वश मानने के अतिरिक्त वेदांत ने सांख्य का मत ज्यों का त्यों ले लिया । अतः सेश्वरी सांख्य तथा वेदान्त एक ही मत के हैं ।

मीमांसा

मीमांसा में कम ही को सबका कर्ता धर्ता और ईश्वर माना है । इसका उल्लेख मानस में किया गया है । कर्म की प्रबलता गोसाईं जी को मान्य हैं, किंतु कर्मही ईश्वर है यह उन्हें मान्य नहीं । गोसाईं जी के मत से ईश्वर कर्म को भी बदल सकता है तथा कर्म उसी का बनाया हुआ एक नियम मात्र है :—

“कर्म विवस सुख दुःख छति लाहू ॥”

“करै जो करम पाव फल सोइ ॥”

करम प्रधान बिस्व करि राखा ।

जो जस करै सो तस फल चाखा ॥

जीव मम वश दुख सुख भागी ।

कोउ न काहु दुख सुख कर दाता ।

निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ॥

यहाँ तक तो सिर्फ कर्म ही को प्रधानता दी है किंतु गोसाईं जी का अंतिम मत यही है कि राम ही इस कर्म फल के देने वाले है तथा उनकी कृपा से वह फल बदल सकता है। उनका मत एक प्रकार से “शेखरी मीमांसा” के नाम से पुकारा जा सकता है।

वेदांत

कहा जा चुका है कि सब दर्शन असल में एक ही वेदांत मत की भिन्न-भिन्न सीढ़ियाँ हैं। गोसाईं जी का मत भी वेदांत के आधार ही पर था। वे वेदान्त के मत से प्रयाः सहमत थे। वेदांत के प्रधान ग्रंथों के वाक्यों का मानस में कभी-कभी ज्यों का त्यों अनुवाद मिल जाता है। गोसाईं जी का तत्व विचार शंकराचार्य तथा अन्य आचार्यों के विचारों ही पर प्रतिष्ठित है। अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा द्वैत आदि सब मतों का उल्लेख करके गोसाईं जी ने अद्वैत मत ही को सिद्ध किया है। इन मतों में भी यथार्थ में अधिक भेद नहीं है। अंत सबका एक ही है। किन्तु अधिकारी भेद अथवा लोगों की पहुँच के अनुसार उक्त मतों की उपयोगिता है। इन सब मतों का समन्वय करना ही गोसाईं जी का उद्देश्य था।

सर्व देव समन्वय

भारतीय धर्म की प्रवृत्ति सदा से ही सर्व देव समन्वय की ओर रही है। महिम्न-स्तुतिकार भी यही घोषित करता है कि "सीधे या टेढ़े मार्ग से जाने वाले पंथों से यात्रा करके भी सभी का आराध्य वही शिव है। जिस प्रकार सारी नदियाँ समुद्र के संभान में हो जाती हैं उसी प्रकार सारे मार्ग उसी एक की खोज में रहते हैं।" (१) उपनिषदों तथा गीता के विराट् रूप को भागवत आदि पुराणों में भी स्वीकार किया गया। (२)

इतना ही नहीं बल्कि उसने माना है कि सर्व-देव मय ईश्वर

(१) प्रभिन्ने प्रस्थाने ऋजुकुटिल नानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पथसामर्णव इव ।

(२) अग्निमुखं मेऽवनि रंघ्रिरीक्षणं

सूर्यो नेत्रो नाभिरथो दिशःश्रुतिः ।

द्यौः कं सुरेन्द्रास्तस्व वाइवो ऽर्णवाः

कुक्षिर्मरुत्प्राणं वलं प्रकल्पितम् ।

(अ० १०—४०—१३)

की उपासना भिन्न २ मार्गों से करने पर भी उसी की प्राप्ति होती है । (३)

वैष्णव ग्रंथ होते हुए भी भागवत ने शिवोपासना को भी भगवत् उपासना ही माना है । (४) इसी प्रकार भर्तृहरि ने तो शैव, वेदांती, नैयायिक, मोमांसक, जैन सभी का उपास्य उसी एक हरि ही को माना है । (५) इसी उदारता के कारण बौद्धों के बुद्ध और जैनों के ऋषभदेव को हिंदू अवतारों में शामिल कर अन्य अवतारों के समान ही उनकी स्तुतियां की गई हैं ।

बहुदेव बाद और एकेश्वर बाद

प्रथम भाग में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार वैदिक देव-ताओं के रूपों परिवर्तन हो गया—पूर्व वैदिक काल के बहुदेवों को उपनिषदों ने एक ईश्वर की शक्तियां बता कर एकेश्वर बाद की स्थापना की जिसे गीता ने विराट् रूप का दर्शन करा कर और भी पुष्ट किया । स्मृति काल में पंचदेव पूजा के साथ विष्णु की पूजा का प्राबल्य हुआ पुराण काल में एक ब्रह्म त्रिमूर्ति में विभाजित हुआ और भिन्न-भिन्न पुराणों में उनमें से एक को प्रधानता मिली । साथ ही विष्णु के अवतारों की महिमा बढ़ी और उनके राम और कृष्ण के चरित्रों पर भागवत आदि पुराणों का निर्माण हुआ । प्रांतोय भाषाओं के कवियों ने भी इन्हीं अवतारों का गुणगान किया । बीच में निर्गुण वादी कवि भी हुए जिन्होंने

(१) सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेव मयेश्वरम् ।

येष्यन्त्यदेव मक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभां ॥

(४) त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेणाश्वरूपिणम् ।

ब्रह्माचार्यविभेदेन भगवन्समुपासते । (भा० १०—४०—२)

(५) यंशैवाः समुपासते शिव इति० (नीतिशतक)

एकेश्वर वाद का प्रतिपादन कर अवतार वाद या बहुदेव वाद की निंदा की। सगुणवादियों ने सगुण रूप का प्रतिपादन किया।

यही तुलसीदास जी के विचारों की पूर्व पीठिका थी। इसी के समन्वय पर उन्होंने सपने विचारों की भित्ति स्थापित की। अपनी समन्वय की प्रवृत्ति के कारण उन्होंने बहुदेव, पंच देव तथा त्रिदेव मानते हुए भी एक राम की उपासना प्रचलित की जिसमें सभी का समन्वय हो गया। वैदिक विष्णु और उनके अवतारों की प्रबलता होते ही ब्रह्मा शिव इन्द्र वरुण आदि देवों को रामकृष्ण आदि अवतारों से नीचा सिद्ध करने की प्रवृत्ति पुराण काल ही से चल पड़ी थी। भागवत तथा अध्यात्म रामायण में शिव इन्द्र वरुण कुबेर आदि के द्वारा कृष्ण या राम की अनेकों स्तुतियाँ कराई गई हैं। भागवत में गोवर्धन धारण तथा वत्समोचन आदि लीलाओं द्वारा इन्द्र और ब्रह्मा को नीचा दिखाया गया है।

बताया जा चुका है कि गोसाईं जी ने ईश्वर का रूप उपनिषदों ही के अनुसार माना है तथा उपनिषद के समान भिन्न भिन्न देवताओं को उन्हीं का रूप अथवा अंग माना है। गीता के समान राम के विश्व रूप में सभी देवताओं को प्रथित कर दिया है। सूर्य नेत्र हैं, अश्विनीकुमार उसकी नासिका है, दश दिग्पाल उनके बाहु हैं, मरुत् उनको श्वास है, यम उनके दाँत हैं, अग्नि उनका मुख है, वरुण उनकी जिह्वा है, शिव अहंकार हैं, ब्रह्मा बुद्धि है तथा चन्द्रमा मन है। (६) राम में इन्द्र,

(१) भृकुटि बिजास भयंकर काळा । नयन दिवाकर कष घनमाळा ॥

जासु घान अश्विनी कुमारा । निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥

जवन दिसा दस बेद बसानी । मारुत स्वास निम निज बानी ॥

अधर लोभ जम दसन कराळा । माया हास बाहु दिगपाळा ॥

वरुण, मरुत्, सूर्य, चन्द्र, काल, सरस्वती, विष्णु रुद्र कुबेर आदि सभी वैदिक देवताओं का समन्वय ही नहीं किया गया वरन् राम को उन सब से श्रेष्ठ बतलाया गया:—

राम काम सत कोटि सुभगतन ।
दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन ॥
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा ।
नभ सत कोटि सरिस भवकासा ॥

दो०—मरुत कोटि सत बिपुल बल,
सवि सत कोटि प्रमास ।
सखि सत कोटि सो सीतल,
समन सकल भवत्रास ॥

काल कोटि सत सरित अति,
दुस्तर दुर्ग दुरंत ।
धूमकेतु सत कोटि सम,
दुराधर्ष भगवन्त ॥

सारद कोटि अमित चतुराई ।
बिधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई ॥
विष्णु कोटि सत पालन करता ।
रुद्र कोटि सत सम संहरता ॥
धनद कोटि सत सम धनवाना ।
माया कोटि प्रपंच निधाना ॥
भार धरन सत कोटि अहीसा ।
निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥

वैदिक देवताओं की हीनता बताने के लिये उनके मुख से

राम की स्तुतियाँ कराई गई हैं (७) इसी से सिद्ध है कि ईश्वर का अंग मानते हुए भी वैदिक देवताओं के प्रति गोसाईं जी की विशेष श्रद्धा नहीं थी। किन्तु स्मृति और पराणोक्त पंच की ओर उनकी श्रद्धा अवश्य थी जो कि उनकी गणेश सूर्य पार्वती शारदा शिव ब्रह्मा आदि की स्तुतियों से प्रगट होती है। गोसाईं जी की विशेषता इसी में है कि उन्होंने इन देवताओं की स्तुति करते हुए भी उनसे एक ही बरदान माँगा है।—

माँगत तुलसिदास कर जोरे ।

बसहु राम सिय मानस मोरे ॥ (गणेश स्तुति)

बेद पुरान प्रगट जस जागै ।

तुलसी राम भगति वर माँगै ॥ (सूर्य स्तुति)

देहु काम रिपु राम चरन रति (शिव स्तुति)

दे हिमा ! मोहि प्रन प्रेम यह नेम निज,

राम घन श्याम तुलसी पयोहा ।

(देवी स्तुति)

देहि रघुबीर पद प्रीति निभेर भानु

दास तुलसी त्रास हरणि भव भामिनी ।

(गंगा स्तुति)

चरन बंदि बिनबौ सब काहू ।

देहु राम पद नेह निवाहू ॥

(विनय पत्रिका)

आनन अनन्य अम्बुपति जोहा ॥ उतपति पावन प्रलय समीहा ॥

अहंकार तिव बुद्धि अब मन सखि चित्त महान ॥

मनुज बास घर अवरमय रूप राम अनवान ॥

(७) बालकांड में अवतार के लिये, लंकाकांड में विजय के समय तथा उत्तर काण्ड में राज्याभिवेक के समय स्तुतियाँ ।

इससे प्रगट होता है कि इन देवताओं की स्तुति का उद्देश्य भी एक राम पद प्रेम की प्राप्ति ही था—इस प्रकार गोसाईं जी ने बड़े कौशल से बहुदेव पूजा के बीच भी अपने एकेश्वर बाद को स्थिर रखा और दोनों का सामंजस्य कर दिया।—

त्रिदेव समन्वय

मैत्रायणीय उपनिषद् में ब्रह्मा, विष्णु, तथा महेश तीनों ही को स्पष्ट रूप से मूल परमात्मा का ही रूप कहा गया है। शिव की उपासना दो प्रकार से की जाती है। पहला शिव का तपस्वी रूप—उनका गौर वर्ण, जूटा-जूट, बाघाम्बर परिधान या दिगम्बर रूप—यह साकार ध्यान हुआ।

दूसरी शिव लिंग की उपासना है। इनमें लिंग पूजा का माहात्म्य अधिक है। लिंग पूजा किस प्रकार प्रारम्भ हुई इस पर एक कथा (म० भा० सौमिक पर्व अ० १७) में वर्णन की गई है। लिंग शब्द लिग् (जानना) धातु से बना है। लिंग याने ज्ञान, आत्म ज्ञान किंवा परमेश्वरी ज्ञान। सभी स्थानों पर लिंग परब्रह्म का मूर्त रूप ही बताया गया है। मूल पीठ, ऊर्ध्व पीठ, तथा पिंडी तीनों मिल कर महालिंग माना जाता है। मूल पीठ ब्रह्मा या रजोगुण का, ऊर्ध्व पीठ विष्णु या सतोगुण का तथा पिंडी शिव अथवा तमोगुण का चिह्न है। इस प्रकार महालिंग ब्रह्मा विष्णु महेशात्मक त्रिमूर्ति रूप परब्रह्म माना गया है। (८) महाभारत में कहा है :—

(८) 'ब्रह्माविष्णुशिवात्मकलिंगं तन्प्रणमामि महाशिवलिंगम्'
(लिंगाष्टक)

“जो शिव है वही विष्णु है, जो विष्णु है वही शिव है। दोनों में जो भेद भाव देखेगा वही दोनों का द्वेषी होगा।” (६)

अतः जिन पुराणों में एक या दूसरे की श्रेष्ठता बताई है उसे उपासना का अभिमान, अथवा द्वेष भाव ही समझना चाहिये। महाभारत में कृष्ण ने शिव की, शिव ने विष्णु की आत्मीय भाव से प्रशंसा की है। श्री कृष्ण ने शंकर की आराधना करने तथा शंकर के सहस्र नामों का उपदेश दिया है। (१०)

अर्जुन को शंकर की आराधना कर उनसे पाशुपत अस्त्र पाने की कथा प्रसिद्ध ही है। (११)

नारायण शंकर से कहते हैं:—“जो तुम्हारा भक्त है वही मेरा भक्त है, जिसे तुम्हारा ज्ञान हो गया उसे मेरा भी ज्ञान हो गया। तुम में और मुझमें कोई भेद नहीं है। तुम्हारे त्रिशूल का चिह्न मेरे वक्षस्थल पर उछलने के कारण मुझे लोग श्रावत्सलाञ्छन कहेंगे, तथा मेरे हाथ का चिह्न तुम्हारे कंठ पर रहने से तुम्हें श्रीकंठ कहेंगे।” (१२)

शिव और विष्णु मूल में एक परमात्मा के ही नाम हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। महाभारत के अंतर्गत विष्णु सहस्र नाम नामक स्तोत्र में विष्णु के इन सहस्रनामों में ‘सर्वः शर्वः शिवः स्थाणुः’ (श्लोक ४) व ‘स्वयंभूः शंभुरादित्यः।’ (श्लोक ५) पद हैं। अब सर्व, शर्व, शिव, स्थाणु, शंभु नाम शिववाचक होकर भी विष्णु के लिये उपयोग में आये हैं। श्री शंकराचार्य ने विष्णु

(९) महाभारतः नारायणीय उपाख्यान ।

(१०) ,, अनुशासन पर्व; उपमन्यु उपाख्यान ।

(११) ,, द्राण पर्व ९०-९३

(१२) ,, शान्ति पर्व

सहस्र नाम के भाष्य में 'शर्व' पद का (शृणोति सकलाः प्रजाः संहरति संहारयति वा शर्वः), 'जो सब प्रजाओं की स्तुति सुनता है और सब का संहार करता और करवाता है वही शर्व है' इस प्रकार का अर्थ किया है। आगे कहा है :—(स ब्रह्म स शिव इत्यभेदोपदेशात् शिवादि नामभिर्हरिरेव स्तूयते)। वही ब्रह्म और वही शिव है। इस अभेद उपासना के कारण शिव आदि नामों के द्वारा हरि हो की स्तुति की जाती है। दूसरी ओर रुद्राध्याय (चौथे अनुवाक्) में 'नमो गिरिशाय शिपिविष्टाय च' नाम आये हैं। इनमें शिपिविष्ट विष्णु का नाम प्रसिद्ध है। (विष्णुमूर्ति धारा शिपिविष्टः। विष्णुः शिपिविष्ट इति श्रुतेः)। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में शिपिविष्ट का अर्थ विष्णु स्पष्ट रूप से माना गया है। ऋग्वेद में आता है:—

(ॐ वषट् ते विष्णवाः आ कृणोमि । तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्वम्) हे विष्णो! हम मुख से तुम्हारी प्रशंसा करते हैं। हे शिपिविष्ट! तुम हमारी हवि को स्वीकार करो।' (१३) महाभारत में भी शिव और विष्णु इन्हीं दो को मुख्य देवता माना गया है। महाभारत पर से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि मंदिरों में उस समय इन देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित थीं और उनकी पूजा अर्चा भी होता थी। महाभारत काल से लेकर शंकराचार्य तक शिव, विष्णु, स्कंद, देवी आदि का भक्ति प्रचलित थी। शेष वैदिक देवता थोड़े समय बाद अप्रचलित हो गये। महाभारत में विष्णु सहस्र नाम के साथ 'शिव सहस्र नाम' भी है। कोई शिव का परम देवता मानता है और कोई विष्णु को। आगे कुछ पुराणों में विष्णु को श्रेष्ठ कहा गया और कुछ में शिव

को । दोनों देवों के भक्तों में आगे कुछ प्रतिद्वंद्विता भी हो गई । बाद में दोनों देवताओं को बराबर मानने से उनमें परस्पर प्रेम अथवा एकात्म्य का उदय हुआ । 'शिवस्य हृदये विष्णु-विष्णोश्च हृदये शिवः'—आज भी सर्वसाधारण का विश्वास बना है ।

तीन गुणों (सत्त्व, रज, तम) तथा तीन कार्यों (सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और नाश) के कारण एक ब्रह्म का त्रिमूर्ति में विभाजन हुआ । (१) इनके तीनों गुणों के अनुसार १८ पुराणों का विभाजन भी (६ सात्त्विक, ६ राजस और ६ तामस पुराणों में) किया गया है । विष्णुसंबंधी सात्त्विक, ब्रह्मासंबंधी राजस तथा शिवसंबंधी तामस पुराण माने गए हैं । सांप्रदायिक लोगों के हाथ में पड़ कर इनमें एक देव की उच्चता तथा दूसरे की निम्नता बतलाने का प्रयत्न किया गया । पद्म-पुराण में जैनों तथा बौद्धों की निंदा के वचन भी मिलते हैं । एक स्थान पर देवीभागवत में विष्णु और शिव की निंदा की गई है (२) तथा ब्रह्मा से विष्णु और विष्णु से शंकर की श्रेष्ठता बतला कर देवों की सर्वोत्तमता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है । (३) किंतु दूसरी जगह त्रिमूर्ति का देवी स

(१) सथा त्वं पालकश्चाहं हरः संहारकारकः ।

जरात्संजनने शक्तिस्त्वयि तिष्ठति राजसी ।

सात्त्विकी मयि रुद्रे च तामसी परिकीर्तिता ॥

(देवीभागवत अ० ४-४६-४७)

(२) देवी, स्क० ५ अ० १६)

(३) विष्णोरप्यधिको रुद्रो विष्णुस्तु ब्रह्मणोऽधिकः ।

उत्तरोत्तरभावेनाप्युत्तमत्वं स्मृतं बुधैः ॥

(देवी ५-१)

अभेद भी बतलाया गया है। (१) पद्मपुराण (रेवाखण्ड) के अंतर्गत देवीमाहात्म्य में तो ब्रह्मा विष्णु रुद्र के, शक्तियों के रूप में, देवी के शरीर से निकलने तथा उन्हीं में एकाकार होने की कथा में बड़े अच्छे ढंग से त्रिदेव की एकता सिद्ध की गई है। (२) भागवत पुराण में तीनों की एकता स्थापित की गई है। (३)

विष्णुपुराण में भी इसी एकता का समर्थन किया गया है। (४) शिवपुराण में भी एकतासूचक समर्थन वाक्य मिलते हैं। (५) बृहन्नारदीय पुराण में भी वही एकता स्पष्ट की

(१) यो हृदिः स शिवः साक्षाद्य. शिवः स स्वयं हरिः ।

(देवी ३-६)

सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्वदैव भमास्य च ।

सोऽसौ साहमहं योऽसौ भेदोस्ति मम विभ्रमात् ॥

(२) एकैवाहं जगत्पन्न द्वितीया का ममापरा ।

पश्यैता दुष्ट ! मयेव विशन्त्यो मद्विभृतयः ॥

(३) त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदा ।

सर्वभूतात्मतां ब्रह्मन् स शान्तिमधिगच्छति ॥

(भा० ४-५४)

(४) सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।

स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥ —विष्णु०

(५) त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्माविष्णुहराख्यया ॥

सर्गरक्षालयगुणैः निष्कलोऽयं सदा हरे ॥

—रिवपुराण

गई है (१) महाभारत तथा अन्य पुराणों में इस प्रकार के प्रसंग लाए गए हैं जहाँ कृष्ण के द्वारा शिव की, शिव जी द्वारा विष्णु की महिमा गवाई तथा स्तुतियाँ कराई गई हैं। श्रीमद्भागवत में तो ऐसे प्रसंग भरे पड़े हैं जहाँ पार्वती विष्णु की स्तुति करती हैं। (भा० ६-१७), ब्रह्मा शिव की स्तुति करते हैं (भा० ४-६-३२), विष्णु शिव की महिमा का बखान करते हैं (सं० ४ अ० ६-७ तथा ८-७) और शंकर विष्णु के गुण गान करते हैं। (भा० १२-१०)

इससे स्पष्ट है कि पुराणकारों को त्रिदेव की एकता ही अभीष्ट थी किंतु सांप्रदायिक लोगों के हाथ में पड़कर इनमें एक दूसरे को नीचा सिद्ध करनेवाले वचन बाद में दिए गए हैं।

ब्रह्मांड उत्पन्न करने के लिये निर्गुण ब्रह्म को सगुण होना पड़ता है। संसार की उत्पत्ति, पालन तथा नाश के लिये उसी सगुण ब्रह्म को भिन्न भिन्न कार्यों के अनुसार तीन नाम धारण करने पड़ते हैं। एक ही ब्रह्म उत्पन्न करते समय ब्रह्मा, पालन करते समय विष्णु और संहार करते समय शंकर नाम से प्रसिद्ध होता है। तीन नाम होने से ब्रह्म की अद्वैतता नष्ट नहीं हो जाती।

गोसाईं जी ब्रह्म को एक समझ कर भी उसे तीन नाम रूपों से संबोधित करते थे।

(१) नमामि देवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम् ।

केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदूचिरे ॥

—बृहन्नारदीय पु०

ब्रह्मा-विष्णु-महेश एक ही में तीन और तीन ही में एक हैं। उनका सिद्धांत था कि राम ही तीन नाम धारण कर उत्तरति, पालन और संहार करते हैं :—

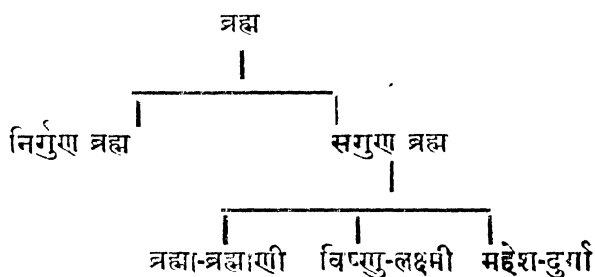
तासु भजन कीजिय तहँ भरता ।

जो करता पालक संहारता ॥

गुसाईं जी ने राम-नाम में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों को वर्तमान माना है :—

विधि हरि हर मय वेद प्रान से ।

उक्त बातों को हम इस प्रकार लिख सकते हैं —



सगुण ब्रह्म में पुरुष और प्रकृति दोनों का समावेश है। अतः पुरुष के साथ प्रकृति के भी तीन नाम हो जाते हैं। ब्रह्मा की शक्ति का नाम ब्रह्माणी, विष्णु की शक्ति का नाम रमा और महेश की शक्ति का नाम उमा हो जाता है।

त्रिमूर्ति के विषय में एक दूसरा सिद्धांत यह है कि ब्रह्मा-विष्णु-महेश ईश्वर द्वारा नियुक्त भिन्न भिन्न लोकों के नायक अधिकारियों के नाम हैं। योग्यता के लिये तपादि साधनों की आवश्यकता होती है। श्री शंकराचार्य का यह मत है। मानस की निम्नलिखित चौपाइयों से भी कुछ कुछ इसी प्रकार की ध्वनि निकलती है :—

तप बल रचै प्रपंच विधाता ।
तप बल विष्णु सकल जग - त्राता ॥
तप बल संभु करहिं संहारा ।

और :—

विष्णु विरंचि शंभु भगवाना ।
उपजहिं जासु अंस ते नाना ॥

इस प्रकार प्रत्येक लोक के अलग-अलग उत्पत्ति, पालन और लयकर्त्ता माने गए हैं (लोक लोक प्रति भिन्न विधाता) । मानस में वर्णित ब्रह्मा-विष्णु-महेश की अनेकता का यही कारण है । सती को रामजी ने ऐसे ही अनेकों त्रिमूर्तियों का दर्शन कराया था । कागभुशुंडिजी ने भी प्रत्येक ब्रह्मांड में अलग अलग ब्रह्मा आदि को आधिपत्य करते दिखाया है । इन सब कथाओं का यही अर्थ है कि प्रत्येक लोक के अलग अलग कार्यकर्त्ता हैं और कार्यों के अनुसार उनके नाम ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं । साथ ही साथ यह भी प्रतिपादित किया गया है कि ये सब राम परमात्मा के सेवक हैं । सती और कागभुशुंडि ने एक ही राम-रूप दिखाया । अनेक शंकर, अज उनकी सेवा कर रहे थे । निम्न श्लोक भी इसी को सूचित करता है :—

प्रतिविश्वेषु सन्त्येव ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।

ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते ॥

इस सिद्धांत को पुष्ट करने के लिये शिव, ब्रह्मा आदि का परब्रह्म की स्तुति करना भी एक प्रमाण है । राम को गुसाईंजी ने परब्रह्म का अवतार तथा त्रिमूर्ति को उनका सेवक मान कर उनकी सेवा वंदना कराई है । रामजन्म के समय, विवाह के अवसर पर, लंकाविजय तथा राज्याभिषेक के अवसरों पर शंकर आदि ने उनकी स्तुति की है ।

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनु । विधि हरिहर वंदित पदरेनु ॥

× × ×

देखे सिव विधि विष्णु अनेका । अमित प्रभाव एक ते एका ॥

बंदत चरन करत प्रभु सेवा ।

× × ×

जग पेखन तुम देखनहारे । विधि हरि संभु नचावनहारे ।

× × ×

संकर सहस विष्णु अज तोही । राखि न सकहि राम कर द्रोही ।

× × ×

अगम सनेह भरत रघुवर को । जहँ न जाय मन विधिहरिहर को ।

× × ×

विधि हरि हर तप देखि अपारा । नृप समीप आए बहु बारा ॥

× × ×

तौ तव बस विधि विष्णु महेसा ॥

× × ×

“विधि हरि हर सुर सर्व” आदि अवतरणों में तीनों देवता राम-ब्रह्म से नीचे दर्जे के माने गए हैं ।

मानस में तुलसीदासजी ने उक्त दो सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है जो आपस में विरोधी मालूम हो सकते हैं । गोसाईं जी ने त्रिमूर्ति को एक ही ब्रह्म के भिन्न भिन्न रूप और कहीं उन्हें राम (ब्रह्म) के सेवक बताया है । इन परस्पर-विरोधी सिद्धांतों की एकता किस प्रकार हो ?

त्रिमूर्ति की समानता

राम ही की श्रेष्ठता हर जगह स्थापित की गई है परंतु शंकर जी को भी उन्हीं के बराबर स्थान देने में उन्होंने कहीं त्रुटि नहीं की । राम और शिव की समानता स्थिर रखने के लिये उन्होंने

एक को दूसरे का अनन्य भक्त बनाया है। शिव राम के और राम शिव के अनन्य भक्त हैं। शिव जी की वंदना करते हुए स्वयं गोसाईं जी ने कहा है 'सेवक स्वामि सखा सिय प्रिय के।' इसी के अनुसार कहीं शिव जी राम के स्वामी, कभी सेवक और कभी सखा के रूप में चित्रित किए गए हैं। उसी प्रकार राम ने भी शिव की श्रेष्ठता गाई है। परंतु इस समानता में भी राम की श्रेष्ठता स्पष्ट प्रकाशित हो उठती है।

फलस्वरूप तुलसीदास की कृपा से रामभक्त और शिवभक्तों का विरोध मिटकर शिव-राम का नाम एक ही में गुंथ गया :—

सिव पद कमल जिनहिं रति नाहीं। ते रामहिं सपनेहु न सोहाहीं।

बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू ॥

पर बेचारे ब्रह्मा का आसन सेवक पद से उठकर राम शिव की समानता पर कभी स्थापित नहीं हो सका। राम और शिव दोनों की सेवा में वृद्ध ब्रह्मा निरत रहे। तुलसीदास जो ही से नहीं किंतु उनके बहुत काल पूर्व ही से ब्रह्मा की ऐसी ही उपेक्षा चली आई है। ब्रह्मा की पूजा बहुत काल पूर्व लुप्त हो गई थी, यहाँ तक कि सारे भारत में ब्रह्मा के एक ही दो मंदिर मिलते हैं। अस्तु।

राम और विष्णु

पुराणों आदि में राम विष्णु ही के अवतार माने गए हैं। किंतु गोसाईं जी ने दो परस्पर विरोधी बातें लिखी हैं। उन्हें निर्गुण परब्रह्म के सगुण अवतार कह कर त्रिदेव से उनकी सेवा कराई है। जब राम इस प्रकार परब्रह्म के अवतार माने गए हैं तब उन्हें त्रिदेवों से बिलकुल अलग कर दिया है और तब त्रिदेव उनके सेवक मात्र माने गए हैं। उदाहरण के लिये

सती ने राम रूप पर शंका करते हुए कहा था कि विष्णु भी नर-तनु धारण करते हैं पर वे तो शिव जी ही की बराबरी के हैं। फिर वे उन्हें क्यों प्रणाम करने लगे ?

विष्णु जो सुरहित नर तनु धारी ॥ सोउ सर्वज्ञ जथा त्रिपुरारी ।

इनसे प्रकट होता है कि यहाँ परब्रह्मा के अवतार राम तथा विष्णु के अवतारों को अलग-अलग रखा गया है ।

कहीं-कहीं मानस से यह भी प्रकट होने लगता है कि राम विष्णु के अवतार हैं । गुसाईंजी ने अधिकतर पहिले मत का ही स्पष्टतापूर्वक प्रतिपादन किया है । पर कहीं कहीं इस मत की भी झलक मिल जाती है । नीचे इन दोनों मतों को गोसाईंजी ने जिन प्रमाणों से पुष्ट किया है उसके उदाहरण दिए जाते हैं :—

- (१) राम जी को अनेक स्थानों पर “हरि” नाम से संबोधित किया गया है ।
- (२) विष्णु भगवान् ने ही कश्यप-अदिति तथा मनु-शतरूपा को अपने पुत्ररूप से अवतार लेने का वरदान दिया था, जिसकी पूर्ति स्वयं गुसाईंजी के ही अनुसार रामावतार से हुई ।
- (३) रामावतार के पूर्व ईश्वर को ढूँढ़ने के लिये ब्रह्मा शिव आदि सब निकले पर विष्णु उनके साथ न थे ।
- (४) राम ने जन्म के समय चतुर्भुजी विष्णु रूप से दर्शन दिए ।
- (५) राम-जन्म, लंकाविजय तथा रामराज्याभिषेक के समय शंकर और ब्रह्मा आदि स्तुति करने गए पर विष्णु उनके साथ न थे । अतः विष्णु ही राम हैं ।
- (६) राम की स्तुति करते हुए उन्हें “सिंधु सुता प्रिय कंता”,

श्रीपति तथा उर्विजापति आदि नामों से संबोधित किया गया है जो कि सब विष्णु के नाम हैं।

(७) राम कहते हैं :—मोहि समेत विरंचि सिव बस ताके सब देव ।

इससे यह तात्पर्य निकला कि राम ही विष्णु हैं तभी उन्होंने अपने को विष्णु समस्त त्रिमूर्ति में से शेष दो का उल्लेख किया ।

(८) वंदेहं करुणाकरं रघुवरं । 'रामाख्यमीशं हरिम् ।'

आदि इसमें भी विष्णु ही राम कहे गए हैं । इत्यादि

उक्त उद्धरणों से प्रगट होता है कि राम विष्णु ही के अवतार हैं । परंतु निम्नलिखित उद्धरणों से इसके विरुद्ध यह सिद्ध होता है कि राम स्वयं परमात्मा हैं, विष्णु के अवतार नहीं; और विष्णु उनके एक सेवक हैं :—

१—राम जी अनेक स्थलों पर निर्गुण परमात्मा के अवतार कहे गए हैं न कि विष्णु के :—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।

विश्ववास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विभ्राम ।

२—अगद ने कहा है :—जाके बल विरंचि हरि ईशा ।

पालत सृजत हरत दससीसा ।

अतः ब्रह्मा विष्णु शिव को शक्ति देनेवाले राम ही हैं । वे विष्णु नहीं, उनके स्वामं हैं ।

३—जब राम की चरणरज विष्णु आदि सिर पर रखते हैं तब निश्चय ही विष्णु राम नहीं हैं ।

विष्णुविधिवन्धचरणारविंदम्'

४—राम रूप में अनेकों विष्णुओं के दर्शन हुए थे जिनके अधीन भिन्न भिन्न लोक थे ।

५—राम के विवाह के समय विष्णु ने उनका रूप देखकर अपने को धन्य माना था । इत्यादि ।

मानस में उक्त दो परस्पर-विरोधी सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है । इनका भेद कैसे दूर हो तथा इनमें से तुलसीदास का निश्चित मत किस प्रकार से निकाला जाय ? असल में त्रिमूर्ति और राम सब एक ही हैं । अतः चाहे राम विष्णु के अवतार समझे जावे अथवा परब्रह्म परमात्मा के, इन दोनों में कुछ अंतर नहीं पड़ता । उक्त प्रमाणों से केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि जब तुलसीदास निर्गुण परब्रह्म को त्रिमूर्ति से अजग समस्त वर्णन करते हैं, तब राम को परमात्मा का रूप कहते हैं । पर जब वे विष्णु और परमात्मा को एक ही दृष्टि से देखते हैं तब राम को विष्णु का अवतार कह देते हैं । अतः ऊपर जो भेद दीखता है वह सिद्धांत का भेद नहीं किंतु भिन्न भिन्न दृष्टियों का भेद है ।

उक्त दोनों प्रकार के सिद्धांतों का समन्वय कराना उनका उद्देश्य था ।

कहीं कहीं गुसाईंजी ने शंकरजी को परब्रह्म का रूप दे दिया है ।

यथा :—“शंकर जगतबंध जगदीसा ।”

कहीं कहीं परमात्मरूप मानकर गुसाईंजी ने सब से शंकर-भक्ति कराई है । किंतु अधिकांश स्थलों में शिवजी को राम के एक परम भक्त योगी के रूप में ही चित्रित किया है ।

शिवजी को इस प्रकार से राम के स्वामी और सेवक—दोनों ही का रूप देकर गुसाईंजी ने अपने इष्ट को सर्वोच्च रखते हुए भी शैव और वैष्णव मतों का जो ऐक्य साधन किया वह सचमुच अद्वितीय युक्ति है ।

उन सब मतों का सारांश यही है कि गोसाईंजी ने

(१) रामजी को परब्रह्म माना है तथा त्रिमूर्ति को इन्हीं के सेवक रूप से वर्णन किया है ।

(२) कभी कभी राम-शिव को बराबरी का स्थान दिया गया है; किंतु ब्रह्मा को सदा नीचा ही स्थान मिला है । वे एक अधिकारी मात्र माने गए हैं ।

(३) राम अनेकों जगह विष्णु रूप भी माने गए हैं । विष्णु शंकर ही की बराबरी के कहे गए हैं—विष्णु कहीं भी शंकर से श्रेष्ठ नहीं कहे गए । राम ही शंकर से श्रेष्ठ माने गए हैं जब कि वे त्रिमूर्ति से परे परमात्म रूप से वर्णित हैं ।



मार्ग समन्वय

सुखप्राप्ति की इच्छा

बौद्ध धर्म और गीता ने संसार को अनित्य और दुःखमय माना है। (अनित्यमसुखं लोकम्) अतः दुःख से मुक्त होकर सुख पाने की मानव-हृदय में स्वाभाविक इच्छा होती है। यही सुख-प्राप्ति की इच्छा मनुष्यों को विविध कर्मों में लगाती है। क्षणभंगुर सांसारिक सुख-प्राप्ति के लिये श्रम करते-करते जब आत्मा अपनी इच्छा को तृप्त करने में असमर्थ हो जाती है तब वह चिरस्थायी सुख की खोज करने लगती है। इस प्रकार लौकिक सुखों को छोड़ कर पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिये मनुष्य प्रयत्न करता है। किंतु पारलौकिक स्वर्ग-सुख भी जब चिरस्थायी नहीं रहता (क्षीणे पुण्य मर्त्यलोके विशन्ति) तब मनुष्य नित्य सुख को खोजने लगता है। अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये यज्ञ, जप, दान, व्रत आदि करके भी जब उसे शांति नहीं मिलती तब वह सबको तुच्छ समझ कर परम शांति के उपायों को खोजने लगता है।

गुसाई जी ने इन सब उपायों को एक के बाद एक तुच्छ बतलाया है। इंद्रिय-सुख तथा पारलौकिक सुखों को उन्होंने उस अनंत तथा नित्य सुख के सामने तुच्छ सिद्ध किया है। सकाम यज्ञ, दान, तप आदि भी उनकी दृष्टि में तुच्छ हैं। उनकी संमति में कामनाओं की वृत्ति उन्हें संतुष्ट करने से नहीं किंतु त्यागने से ही होती है।

बुझै न कामअगिन तुलसी कहूँ विषय भोग बहु घी ते। (विनय०)

लौकिक सुखों से लेकर स्वर्ग आदि के सुख भी चिरस्थायी नहीं (स्वर्गेहु स्वल्प अंत दुखदाई) अतः उनकी कामना करना भी उन्होंने व्यर्थ समझा। इससे उन्होंने आत्मसुख की प्राप्ति के लिये कोई अन्य उपाय की खोज आरंभ की।

आत्म-वृत्ति तथा ब्रह्म-प्राप्ति के लिये ज्ञान और भक्तिये ही दो उपाय उनकी दृष्टि में सर्वोत्तम जँचे। बिना अनंत ईश्वर की प्राप्ति हुए न तो अनंत सुख ही मिल सकता है और न आवागमन ही छूट सकता है। जब उस अनंत सुख की प्राप्ति हो जायगी तब अन्य सारे सुख तुच्छ जँचने लगेंगे :—

ब्रह्म पियूप मधुर सीतल अति जो मन यह सुख पावै।

तो कत मृगजल रूप विषय कारन निसि वासर धावै ॥

(विनय०)

ईश्वर-प्राप्ति के तीन मार्ग प्राचीन काल ही से प्रचलित थे—(१) कर्ममार्ग जिसमें यज्ञ, तप, दानादि शामिल है; (२) ज्ञानमार्ग जिसमें जीव ईश्वर की एकता का प्रतिपादन किया जाता है और (३) भक्तिमार्ग जिसमें ईश्वर को निष्काम भक्ति के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। ये कर्म उपासना ज्ञान के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनमें से पहिले साधन कर्मकांड को तो गोसाई जी ने कलियुग के लिये असामयिक और अनुपयुक्त समझ कर उपेक्षा

और निंदा भी की है। उन्होंने इसे एक अलग मार्ग न मान कर ज्ञान और भक्ति मार्ग के सहायक के रूप में महत्त्व दिया है।

शेष दो मार्गों में से दोनों को बराबरी का दर्जा देते हुए भी गोसाईजी ने भक्ति ही को श्रेष्ठता दी है तथा दोनों का विरोध मिटा कर एक दूसरे का सहायक बना दिया है। उनकी दृष्टि में भक्ति-रहित ज्ञान अथवा कर्ममार्ग किसी काम के नहीं। ये भक्ति-रस के बिना नीरस तथा तत्त्वहीन हैं।

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग

ज्ञान और भक्ति का गोसाईजी ने साथ ही साथ वर्णन किया है। उनके विवेचन को समझने के लिये निम्नलिखित बातें याद रखनी चाहिए।

(१) कहीं-कहीं गोसाईजी ने ज्ञान और भक्ति को दो बिलकुल अलग-अलग मार्गों के रूप में वर्णन किया है।

(२) कहीं कहीं भक्ति और ज्ञान दोनों को एक ही में मिला दिया है तथा

(३) कहीं ज्ञान को भक्ति से नीचे दर्जे का मान कर उसे भक्ति का सहायक मात्र माना है :—

“सो स्वतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ज्ञान-विज्ञाना ॥

कभी तो वे कहते हैं कि ज्ञान से भी भगवान् प्राप्त होते हैं और भक्ति से भी; कभी वे कहते हैं कि “ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा” और कभी कहने लगते हैं कि

“सोह न रामप्रेम बिनु जानू ।”

इन परस्पर-विरोधी दीखनेवाले वचनों की एकवाक्यता कैसे हो ?

गोसाईजी ने ज्ञान और भक्ति मार्गों का भेद मिटा कर दोनों

को एक ही में संमिलित करने का प्रयत्न किया है। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गों को मोक्षदायक मानते हुए भी गोसाईंजी ने ज्ञानमूलक भक्ति को केवल ज्ञान की अपेक्षा श्रेष्ठता दी है।

यद्यपि वे यह मानते हैं कि ज्ञान मोक्षप्रद है (ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना) किंतु उसके साधन की कठिनता देखते हुए उन्होंने उसे वर्त्तमान काल के लिये उपयुक्त नहीं माना :—

“ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मन कहँ टेका ॥

सर्वसुलभ भक्तिमार्ग ही उन्हें अपने समय के लिये सबसे उपयुक्त मार्ग जान पड़ा। इसी कारण कहीं-कहीं ज्ञानमार्ग की ओर अपेक्षा दिखाई देती है। किंतु गोसाईंजी ने असली भक्ति और ज्ञानतत्त्व में कोई अंतर नहीं माना। ज्ञानमार्ग को उन्होंने भक्ति में ही शामिल कर उसे एकाकार और अभिन्न कर दिया है।

इस भक्ति की श्रेष्ठता के स्थापन के लिये गोसाईंजी ने सभी परम ज्ञानियों के मुख से भक्तितत्त्व की व्याख्या करा के उसे श्रेष्ठ सिद्ध किया है। शंकर, भारद्वाज, अत्रि, अगस्त्य, शरभंग, कागभुशुंडि आदि सब इसी प्रकार के ज्ञानी भक्त हैं। काग-भुशुण्डि, अंगद और हनुमान ऐसे भक्त हैं जो ज्ञान का निरादर कर भक्ति के ही पक्षपाती हैं।

ज्ञान-भक्ति-कर्म-समन्वय

कहा जा चुका है कि गोसाईंजी ने ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय किया है। उन्हें सदा ‘अविरल भगति’ के साथ ‘विरति विज्ञाना’ का योग पसंद है।^१ जहाँ भी भक्ति की चर्चा

१—अविरल भगति विरति विज्ञाना । होहु सकल गुन ज्ञान निधाना ॥

आती है वे उसके साथ 'विरति विवेक' को नहीं भूलते ।^१ उसी प्रकार जहाँ ज्ञान की चर्चा आती है उसे वे भक्ति-समन्वित कर देते हैं ।^२ साथ ही कर्म के साथ ईश्वरार्पण की भावना को वे मिला देते हैं ।^३ इस प्रकार उन्होंने बड़ी खूबी के साथ तीन मार्गों का समन्वय किया है । उनके बताए तीन मार्गों को अलग अलग मानना ही भूल है । असल में वे एक ही मार्ग की तीन शाखाएँ हैं । वे तो भक्ति की गंगा, ज्ञान की सरस्वती तथा कर्म की यमुना के संगम से निर्मित समन्वयरूपी तीर्थराज के ही उपासक हैं ।^४

तुलसीदास जी ने भक्ति को साधन और सिद्धि दोनों माना है । जहाँ भक्ति के द्वारा ज्ञान या कर्म योग का साधन किया जाता है वहाँ भक्ति साधन मात्र है । किंतु जहाँ ज्ञान या कर्म द्वारा भक्ति की साधना की जाती है वहाँ भक्ति साध्य हो जाती है । इस प्रकार भक्ति में साधन, और साध्य दोनों समन्वित हैं ।

मानस के जो चार घाट बतलाए गए हैं, वे भी कर्म, ज्ञान और भाक्त के समन्वय ही के लिये हैं । कर्मघाट के वक्ता भारद्वाज, ज्ञानघाट के वक्ता शंकर, तथा भक्तिघाट के वक्ता कागभुशुडि अपने अपने मत के प्रबल समर्थक होते हुए भी भक्ति को ही अंतिम ध्येय बतलाते हैं । कागभुशुडि जी कहते हैं:—

-
- १—विरति विवेक भगति दृढ़ करनी । रामकथा भव सरिता तरनी ॥
 २—सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू । करनधास बिनु जिमि जलजानू ।
 ३—करइ जो धरम करम मन बानी । वासुदेव आपत जिय जानी ॥
 ४—राम भगति जहँ सुरस्मरि धारा । सरसइ ब्रह्म विचार प्रचार ॥
 विधि निषेध मय कलिमल हरनी । कर्म कथा रविनंदिनि बरनी ॥

साधक सिद्ध विमुक्त उदासी । कवि कोविद कृतग्र्य संन्यासी ॥
जोगी सूर सुतापस ग्यानी । धर्म-निरत पंडित विग्यानी ॥
ताहिं न बिनु सेये मम स्वामी । राम नमामि नमामि नमामी ॥

शंकरजी का मत है :—

तीर्थाटन साधन समुदाई । जोग बिराग ग्यान-निपुनाई ॥
नाना कर्म धर्म व्रत दाना । संजम दम जप तप मख नाना ॥
भूत दया द्विज गुरु सेवकाई । विद्या विनय विवेक बड़ाई ॥
एहि कलिकाल न साधन दूजा । जोग जग्य जप तप व्रत पूजा ॥
रामहिं सुमरिय गाइय रामहिं । संतत सुनिअ रामगुन-प्रामहिं ॥
(मानस)

गोस्वामीजी ने जिन वक्ताओं की अवतारणा की है वे सभी समन्वयवादी हैं । कागभुशुंडि पहिले कट्टर संप्रदायवादी थे, उनके चरित्र से हमें कट्टर पंथियों का उदाहरण मिलता है । प्रथम जन्म में अभिमानी, विष्णुद्रोही, स्वपक्षप्राही शिवभक्त;^१ दूसरे जन्म में निर्गुण की उपेक्षा करनेवाले, सगुणवादी^२ और अंत में समन्वयवादी राम-भक्त के रूप में दिखाए गए हैं । एक कट्टर संप्रदायवादी से उदार समन्वयवादी के रूप में उनका विकास बतलाया गया है । कागभुशुंडि के जन्म केवल शारीरिक पुनर्जन्म ही न थे, मानसिक पुनर्जन्म भी थे । इस जन्म में वे ध्यान, जप, पूजा तथा कथा सभी साधनों—ज्ञान, कर्म, उपासना तीनों मार्गों तथा निर्गुण

(१) हरिहर द्विज देखे जरउं करउं विष्णु कर द्रोह ।

(२) निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई । सगुन ब्रह्म पर रुचि अधिकाई ॥

सगुण, शिव विष्णु सभी में समदर्शी के रूप में हमारे सामने आते हैं ।^१

विरति, विवेक, भक्ति का समन्वय

गोस्वामीजी ने भक्ति के साथ विरति विवेक का समन्वय कर ज्ञान की जो मुख्य विशेषताएँ थीं वे ले लीं । हृदय पक्ष (भक्ति) के साथ बुद्धि पक्ष (विवेक) का समन्वय हो गया । भक्ति के साथ भोग का जो समुचित संबंध हो गया था उसे दूर कर उसकी जगह वैराग्य को ला बिठाया जोकि ज्ञानमार्ग का मुख्य तत्त्व था । भक्ति से अंधश्रद्धा और भोग-वासना दोनों निकाल दीं । कर्म से सकामता निकाल कर निष्कामता रख दी है जिसका कर्म ही भक्ति हो उठा । भक्ति ज्ञानरूप हो गई; वह कर्म द्वारा प्रकट हुई; ज्ञान भी भक्ति में फलित हुआ । भक्ति ज्ञान-नयन से देखने लगी और ज्ञान भक्ति के हृदय से अनुभव करने लगा । वैराग्य की ढाल (विरति चर्म) से ज्ञान, भक्ति, कर्म तीनों सुरक्षित हैं । कर्म का पर्यवसान ज्ञान में हुआ और ज्ञान का भक्ति में । कर्म भी ज्ञानाग्नि से शुद्ध होकर अपनी आभक्ति और सकामता छोड़ कर सेवा रूप में प्रकट हुआ ।

आसक्ति और सकामता दो ही कर्म के प्रधान दोष हैं । आसक्ति की जगह विरक्ति (विरति) और सकामता की जगह निष्कामता को स्थापित किया । कर्म के समय हम ज्ञान (विवेक) को भूल जाते हैं, इसलिए वह सकाम हो जाता है । हम अपनी विरक्ति (विरति) को भूल जाते हैं इसलिए आसक्ति आ जाती है । ज्ञान में जब हम विवेक या विरति भूल

(१) पीपर तरु तर ध्यान सो करई । जाय जग्य पाकर तर करई ॥

आम छाँह कर मानस पूजा । तजि हरिभजन काज नहिं दूजा ॥

जाते हैं तब वह ज्ञान न रह कर अज्ञान हो जाता है । यदि विरक्ति को भूल जाते हैं तो देहपूजा हो जाती है और यदि विवेक को छाड़ देते हैं तो वह अन्धानुरक्ति हो जाती । अतः कर्म, ज्ञान या उपासना की आत्मा विरति तथा विवेक ही हैं; इसी कारण गोसाईंजी ने दोनों को परमावश्यक समझ कर कहा है:—

स्रुतिसंमत हरिभगति पथ संजुत विरति विवेक ।

गोसाईंजी की भक्ति में निष्काम कर्म तथा आत्मबुद्धि आ जाती है । यों कहें तो ठीक होगा : अनासक्ति या निष्काम कर्म × आत्मबुद्धि या ज्ञान = भक्ति

∴ विरक्ति × विवेक × भक्ति = तुलसी पंथ सब समन्वय ।

युगधर्मों का समन्वय

विरति और विवेक संयुक्त हरिभक्ति तो प्रधान साधन है ही किंतु उसकी प्राप्ति के लिए भी अनेक सहायक साधनों की आवश्यकता को गोसाईंजी ने स्वीकार किया है और उनको युगधर्म कहा है ।

बुध जुगधरम समुक्ति मन माहीं ।

तनि अधर्म रति धर्म कराहीं ॥

कृतयुग का ध्यान, त्रेता का यज्ञ, द्वापर का पूजा तथा कलि का हरि-गुण-गान मुख्य धर्म मानते हैं:—

कृतयुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग ।

जो गति होइ सो कलि हरि-नाम ते पावहि लोग ॥

ध्यान प्रथम जुग मख पुनि दूजे ।

द्वापर परितोषत प्रभु पूजे ॥

कलि केवल हरिनाम अधारा ।

इनको हम युगप्रवृत्तियाँ कह सकते हैं। इनमें आध्यात्मिक विकास का इतिहास भी लिखित है जिनका दिग्दर्शन हम प्रथम भाग में कर चुके हैं। किंतु संत इस प्रकार के किसी कृत्रिम विभाग को मानने के लिए तैयार नहीं, इसलिए कागभुंशुडि के चरित्र में उन्होंने चारों का समन्वय कराया है। जिस प्रकार प्रतिदिन मनुष्य के चित्त में सात्त्विक राजस तामस गुणों के रूप में युग-परिवर्तन होता रहता है उसी प्रकार वह भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न प्रकारों से अपने प्रभु की भी उपासना कर सकता है; उसके पास पहुँचने का प्रयत्न कर सकता है। वह कभी प्रभु का ध्यान करता है, कभी जप करता है, कभी मानस पूजा करने को प्रवृत्त होता है और कभी प्रभु-गुणगान में लीन हो जाता है।

इसलिए सर्व-समन्वयात्मक विधान में भी गोसाईंजी की विशेष प्रवृत्ति लक्षित हुए बिना नहीं रहती। द्रव्ययज्ञ के स्थान में जपयज्ञ को लिया है जो गीता के अनुसार भी श्रेष्ठ है :—

“यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।”

इसी प्रकार पार्थिव पूजा या भागवतादि में वर्णित षोडशोपचार अर्चा के स्थान पर उन्होंने मानस पूजा का विधान किया

(१) तुलसीदासजी को ये वृक्ष विशेष प्रिय हैं। पंचवटी में भी निम्न पाँच वृक्षों की चर्चा आई है—

नाथ देखियत विटप विसाखा।

पाकर जंबु रसाक्ष तमाखा।

तिन तरुवरन्ह मध्य वट सोहा।

भिन्न भिन्न वृक्षों के नीचे भिन्न भिन्न उपासनाएँ करने का अवश्य ही कुछ रहस्य है।

है और इन सब में भजन या क्रियात्मक सेवा को प्रधान स्थान दिया है ।

उक्त विधान को यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें उसमें प्रभु के नाम रूप लीला धाम के चतुर्व्यूह का समन्वय भी मिलेगा— रूप का ध्यान, नाम का जप, धाम की पूजा और लीला का गान ।

भक्ति में तुष्टि और पुष्टि दोनों हैं ।^१ वह सुगम होने के साथ सुखदायक भी है ।^२ इसमें “सोहमस्मि” के बदले सेवक-सेव्य भाव्य की प्रधानता है ।^३ इसमें प्रकाश जलाने की आवश्यकता नहीं । भक्ति-मणि स्वयं प्रकाशित है ।^४ मोहांधकार दूर करना इसका भी उद्देश्य है ।^५ ज्ञान-दीपक में यह बात अंत में होती है किंतु भक्ति-मणि प्राप्त होते ही अविद्या का अंधकार मिट जाता है ।^६ मोह या दारिद्र्य इसके निकट नहीं आता और मदादिक शलभ जो कि ज्ञान-दीपक में जल जाते हैं इसके पास तक नहीं आते ।^७ विघ्नकर्त्ता कामादि खल इसके पास ही नहीं जाते ।^८ अतः विषय-समीर से बुद्धिभ्रम होने

(१) भोजन करिय तृप्ति हित जागी ।

जिमि सो पचव बढर हित जागी ॥

(२) असि हरि-भगति सुगम सुखदाई ।

(३) सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि ॥

(४) परम प्रकास रूप दिनराती । नहिं कछु चहिय दिया घृ। बाती ॥

(५) प्रबल अविद्या कर परिवारा । मोह आदि तम मिटै अपारा ॥

(६) अचल अविद्या तम मिटि आई ।

(७) हारहि सकल सलभ समुदायी ।

(८) विषम समीर बुद्धिकृत भोरी ।

का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ।^१ लोभ की वायु भी इसे नहीं बुझा सकती ।^२ इसमें सब से बड़ी विशेषता यह है कि शत्रुओं (कामादि खलों या विषयी देवताओं) का भी अहित नहीं होता ।^३ मानस रोग (जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है) भी इसमें व्याप्त नहीं होते । यह सब को सुखप्रद है, दुःख का लेश भी नहीं ।^४

इसकी प्राप्ति के उपाय भी बहुत सुगम हैं । वेद-पुराण रूपी पर्वत रामकथा के सुंदर आकर हैं । सज्जनगण ही इनके मर्मा हैं । (इसी कारण सत्संगति प्रथम भक्ति कही गई है और कथा में रति दूसरी; क्योंकि सत्संग के बिना उसकी प्राप्ति हो नहीं सकती ।) सुमति की कुदाली ही इस मणि को खोद कर निकाल सकती है ।^५ किंतु इसे देखने के लिए ज्ञान और वैराग्य दो नेत्रों की आवश्यकता है ।^६ (यहाँ भी गोसाईजी ने वेद-पुराणों की “रुचिराकर” कहकर “श्रुतिसम्मत, हरि-भगति पथ” तथा ‘ज्ञान वैराग्य नयन’ कहकर ‘संयुत विरति विवेक’ को चरितार्थ किया है ।)

भक्ति-मणि की खोज के लिए केवल सुमति ही काफी नहीं है, उसके लिए भाव भी चाहिए ।^७ इस प्रकार हृदयपक्ष और

(१) खल कामादि निकट नहीं जाहीं ।

(२) लोभ बात नहीं ताहि बुझावा ।

(३) गरल सुधासम अरि हित होई ।

(४) दुख खलेस न सपनेहु ताके ;

(५) मर्मा सज्जन सुमति कुदारी ।

(६) ज्ञान विराग नयन डरगारी ।

(७) भाव सहित जो खोजै प्राप्ति ।

बुद्धिपक्ष दोनों को परा स्थान दिया है। साथ ही यह भी बताया है कि भक्ति के लिए ज्ञान की भी आवश्यकता है। ब्रह्मरूपी निर्गुण पयोनिधि को जब तक ज्ञानरूपी मंदराचल नहीं बनेगा और संतरूपी देवता उसके मथनेवाले न होंगे, कथारूपी सुधा और भक्ति-माधुर्य की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।^१ लोभ-मोहादि शत्रुओं को मारने के लिए फिर वैराग्य की ढाल और ज्ञान की कृपाण की आवश्यकता है। भक्ति ही वह विजय है।^२ अन्य साधन और भक्ति सबका फल।^३

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस भक्तिमार्ग में ज्ञान एक अनिवार्य अंग है। शुभाशुभ कर्म त्यागने के लिए जो कहा गया है उसका अर्थ केवल^४ काम्य कर्म त्यागने ही का है। उनका सदा निष्काम भाव से करने का आग्रह है।^५ इसमें तीनों का सुंदर समन्वय है।

इसी प्रकार ज्ञानमार्ग में भी सब से पहले सात्त्विक श्रद्धा के लिए हरिकृपा की आवश्यकता बतलाई गई है।^६ इस धेनु को

(१) भाव भगति मनि सब सुखछानी ॥

ब्रह्मपयोनिधि मंदर-ज्ञान संत सुर आहि ।

कथा-सुधा मधि काढ़इ, भगति मधुरता जाहि ॥

(२) विरति चर्म असि ज्ञानु मद लोभ मोह रिपु मारि ।

जय पाइय सो हरिभगति, देखु रंगेस विचारि ॥

(३) सब कर फल हरिभगति सुहाई ।

(४) त्यागहिं करम सुभा-सुभ राम के

(५) वासुदेव अर्पित जिय जानी ।

(६) सात्त्विक सद्ग धेनु सोहाई । जो हरि कृपा हृदय बसि आई ॥

मिलाने के लिए भी भावरूपी वत्स की जरूरत है^१ धर्म-दुग्ध के लिए पात्र भी विश्वास ही का चाहिए। ज्ञानमार्ग में बुद्धिपक्ष प्रधान होने पर भी भावपक्ष की पुष्टि पर पूरा ध्यान रखा गया है, साथ ही कर्म को भी पूरा स्थान है। पहले शुभ कर्मों के तृण चरने पर ही श्रद्धा धर्मदुग्ध का उत्पादन करती है। अंत में योगाग्नि प्रज्वलित होने पर शुभाशुभ दोनों प्रकार के कर्म जलाने का कहा गया है।^२ किंतु प्रारंभिक दशा में शुभ कर्मों को करना ही होगा।

भगवान् ने ज्ञानियों और भक्तों को अपना पुत्र कहा है—
ज्ञानी प्रौढ़ पुत्र है और भक्त अबोध पुत्र। प्रौढ़पुत्र अपने बल पर चलने लगता है; वह माया के बंधन खुद ही काट डालता है और बालक भक्त अपने पिता की शरण में रहता है अतः उसी को उसकी सारी चिंता करनी पड़ती है :—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानि ॥
तिनहिमोर बल निज बलताही। दुहुँ कहँ काम बोध रिपु आही ॥
सुनु मुनि ताहि कहौ सह रोसा। भजहिं मोहिं तजि सकल भरोसा ॥
करौ सदा तिन के रखवारी। जिमि बालकहिं राखु महतारी ॥
प्रौढ़ भए तेहि सुत कर माता। प्रीति करै नहिं पाछिछ बाता ॥

गोसाईंजी ने भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए एक और विचित्र तर्क से काम लिया है। वह यह कि माया और भक्ति दोनों स्त्रीलिंग हैं अतः माया भक्ति को नहीं मोह सकती, क्योंकि “मोह न नारि नारि के रुग।” वह ज्ञानियों को मोह लेती है, क्योंकि ज्ञान पुरुष है। यह तर्क केवल अर्थवाद ही जान पड़ता है।

(१) भाव वत्स सिसु पाइ पिन्हाई।

(२) जोग अग्नि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ छाई ॥

जो ज्ञान भक्ति से मिला जुला हो वही गुसाईंजी को पसंद था। भक्ति के विरोधी ज्ञान को वे अत्यंत तुच्छ समझते थे। भक्ति-रहित ज्ञान की उनकी दृष्टि में कुछ कीमत ही नहीं। यदि ज्ञान भक्ति का सहायक है तो उससे उनका विरोध नहीं किंतु भक्ति की उपेक्षा करनेवाले ज्ञान के वे कट्टर विरोधी हैं :—

जे असि भगति जानि परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु स्रम करहीं ॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी ॥

×

×

×

अंत में फिर दोनों मतों का तारतम्य दिखाकर भक्ति की श्रेष्ठता ही स्थिर रखी है :—

ज्ञान कै पंथ कृपान कै धारा । परत खगेस न लागत बारा ॥
जो निर्विघ्न पंथ निरबहई । सो कैवल्य परम पद लहई ॥
उत्तम सुलभ कैवल्य परम पद । संत पुरान निगम आगम बद् ॥
राम भजत सा मुकुति गोसाईं । अनश्चित्त आवइ बरिआई ॥
तथा मोच्छसुख सुनु खगराई । रहि न सकै हरिभगति बिहाई ॥
अस विचारि हरिभगत सयाने । मुकुति निरादरि भगति लोभाने ॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृतिमूल अविद्या नासा ॥

अपनी भक्ति की तल्लीनता के कारण गुसाईंजी ने ज्ञान की जो निंदा की है वह असली ज्ञानमार्ग की नहीं किंतु भूठे ज्ञानमार्ग की है। उन्होंने केवल अभिमानी अज्ञानियों की निंदा की है, जो अभिमान के कारण भक्तिमार्ग का आदर नहीं करते। जो शुष्कहृदय लोग अपने को ज्ञानी कहकर दूसरे मार्गों की उपेक्षा करते थे उनकी गोसाईंजी ने निंदा की है। ज्ञान और भक्ति दोनों ही से मुक्ति प्राप्त होती है किंतु ज्ञानी लोग या तो निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं अथवा सांसारिक काम-नाशों या पारलौकिक सुखों की इच्छा करते हैं। वे लोग अपने

योगबल से इन्द्रादि लोक पाते भी हैं; पर वे स्थायी नहीं रहते। अन्तर्ग्रह ब्रह्मसुख को छोड़कर ये कामनाएँ करना मानों ज्ञानमार्ग का दुरुपयोग करना है।

इसी प्रकार के सुखेच्छुक ज्ञानियों या योगियों को लक्ष्यकर गुसाईंजी ने कहा है :—

जे ज्ञानमान विमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी ।

ते पाय मुर दुर्लभ पदादपि गिरत हम पेखत हरी ॥

कर्मठ कठमलिया कहै, ज्ञानी ज्ञान - विहीन ॥

किंतु भक्तिमार्ग वाले लोग रुचि के अनुसार चार बातें चाहते हैं; (१) अधिकारी लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं, (२) स्वर्ग को इच्छा करते हैं, (३) अनेकों मोक्षपद चाहते हैं; (४) निष्काम भक्ति में ही रत रहकर भक्ति के सिवा और कुछ नहीं चाहते। वे भक्ति के पीछे स्वर्ग-अपवर्ग के सुख तथा मोक्ष तक की इच्छा नहीं रखते—

सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं । तिनकहँ राम भगति निज देहीं ॥

गुसाईंजी ने पहिले तीन प्रकार के भक्तों की अपेक्षा चौथे प्रकार के भक्तों का ही आदर्श सबसे ऊँचा रखा है जो कि मोक्षपद तथा स्वर्ग-सुख आदि को तुच्छ समझकर भक्तिमय जीवन ही को सर्वश्रेष्ठ समझते हैं।

उक्त भेदों के अतिरिक्त गुसाईंजी ने भक्तों के निम्नलिखित चार भेद भी किए हैं—यथा आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन सब में ज्ञानी मात्र ही को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। किसी भाव से भी की गई भक्ति व्यर्थ नहीं है किंतु निष्काम भक्त का दर्जा सबसे ऊँचा है।

अब देखना यह है कि ज्ञान भक्ति का साधन है या भक्ति ज्ञान की साधन है। बहुत लोग भक्ति को ज्ञानप्राप्ति की पहिली

सीढ़ी समझते हैं, जिस तरह कर्मयोग संन्यास की पहिली सीढ़ी समझी जाती है किंतु गुनाईजी ज्ञान को भक्ति का साधन मानते हैं। उनके विव्रित सारे ऋषि परम ब्रह्मज्ञानी होकर भी भक्ति ही में रत रहते थे। भक्ति-प्राप्ति ही उनका अंतिम उद्देश्य है। ब्रह्मपद प्राप्त करके भी भक्ति ही में रत रहना चाहिए—निर्गुण ब्रह्म प्राप्त हो जाने पर भी सगुण ब्रह्म श्रीराम में प्रीति रहना चाहिए। मानस के सब ऋषियों ने सगुण भक्ति ही माँगी है। यद्यपि वे लोग ब्रह्मवेत्ता थे तथापि सगुणोपासना तथा भक्ति को ही श्रेष्ठ समझते थे :—

“वह तव रूप बखानों जानों। फिर फिर सगुन ब्रह्मरति मानों ॥

सोउ (निर्गुण) जाने कर फल यह (सगुण) लीला।

कहहिं नाथ मुनिवर दमसीला ॥”

अस विचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ज्ञान भगवि नदित जहीं

संन्यास तथा कर्मयोग

भक्ति अथवा ज्ञान दोनों कर्मयोग तथा संन्यास दोनों मार्गों से प्राप्त किए जा सकते हैं। भक्त संन्यासी भी हो सकता है और कर्मयोगी भी। ज्ञानी भी अपने ज्ञान का साधन कर्म-योग तथा कर्मसंन्यास दोनों मार्गों से कर सकता है।

बहुत काल से उक्त दोनों मार्गों में विरोध चला आता था जिसे भगवद्गीता ने दूर किया और कर्मयोग को प्रधानता दी। गुसाईजी उक्त दोनों मार्गों में से किसी विशेष के पक्षपाती न थे। वे दोनों ही को एक बराबर समझते थे। उनकी सम्मति है कि मन में भक्ति रहना चाहिए, फिर चाहे घर में रहकर भक्ति की जाय अथवा संन्यास धारण करके। दोनों मार्गों के असली तत्त्व में कुछ भेद नहीं। गुसाईजी ने ऐसे ऐसे कर्मयोगियों का वर्णन किया है जो परम ज्ञानी होकर भी

कर्म करते रहते थे । राम, भरत, जनक ऐसे ही संन्यासी थे ।
कर्म करते हुए भी वे उनसे विरक्त थे ।

“जे निरलेप विरंचि उपाए । पद्मपत्र जिमि जग जल जाए ॥”

उनके चरित्र ऐसे हैं जो ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करते रहते हैं—

करै जो कर्म धर्म नृर ज्ञानी । वासुदेव अरित जिय जानी ॥

ऐसे लोगों का कर्म करना न करने के बराबर है, क्योंकि वे उसमें लिप्त नहीं होते । अतः ऐसे लोग ही सच्चे संन्यासी कहे जा सकते हैं । भरत के बराबर कौन संन्यासी होगा जो—

अवध राज सुरराज सिहाहीं । दसरथ धन लखि धनदल जाहीं ॥

तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥

किंतु भूठे संन्यासियों—दिखावे के लिए संन्यास लेकर उसे बदनाम करनेवालों की गुसाईंजी ने खूब निंदा की है ।

जाके नख अरु जटा बिसाला । सो तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥

केवल कपड़े रँगने से कोई संन्यासी नहीं हो जाता—जिसका मन विराग युक्त है वही सच्चा त्यागी है ।

जे जन रखे विषय रस चिकने राम सनेह ।

तुलसी ते प्रिय राम कहँ कानन बसहिं कि गोह ॥

तुलसी जो पै राम सों, नाहिन सहज सनेह ।

मूँड मुड़ायो बादि हो भेंड़ि भये तजि गोह ॥

यद्यपि दोनों आश्रम तथा कर्म एक बराबर महत्त्व-पूर्ण हैं किंतु जो जिस धर्म का पालन करता है उसे उसी में तन्मय रहना चाहिए—कर्मपथ का त्याग करनेवाला गृहस्थ अथवा गृहस्थी की इच्छा रखनेवाला संन्यासी दोनों ही एक बराबर निंदनीय हैं :—

“सोचिय गृही जो मोह बस, करै कर्मपथ त्याग ।

सोचिय यती प्रपंचरत, विगत विवेक विराग ॥”

सारांश, भक्ति मार्ग ही को श्रेष्ठता दी गई है। अन्य साधन एक तो अति कठिन हैं, दूसरे उनसे सिद्धि जल्दी नहीं मिलती। भक्तिमार्ग अति सुलभ तथा तुरंत फल देनेवाला है। अन्य मतों से विरोध न रखते हुए भी वे अपने मत ही को अपने तथा संसार के लिए सर्वश्रेष्ठ समझते हैं।—भरोसो जाहि दूसरो सो करो। (पृ० ३८-३९)

किंतु कभी कभी अपने अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने हठयोग, ज्ञानयोग आदि मार्गों की उपेक्षा भी कर दी है। यथा—

नाहिन आवत आन भरोसो। (पृ० ३७)

ईश्वरप्राप्ति, मोक्ष या आत्मशुद्धि के उपाय

ज्ञानमार्ग

उद्देश्य [१] ब्रह्म में लीन होना
या निर्वाण।

(२)—माया के बंधन से
छूटना

अथवा (३) सांसारिक या पार-
लौकिक सुखप्राप्ति।

भक्तिमार्ग

(१) निर्वाण (४ प्रकार की
मुक्ति) आनन्द्य सामोप्य
सारूप्य सालोक्य।

(२) वही—

(३) (अ) सुख-प्राप्ति अथवा—
(ब) निष्काम होकर भक्ति-
प्राप्ति।

(४) जन्म-मरण से मुक्ति। (४) [अ] मुक्ति अथवा।

[ब] जीवन मुक्तितथा संसार
में रहकर भक्ति करना।

(५) परमानन्द-प्राप्ति तथा दुःख-नाश ।	(५) वही (तथा मुक्ति की उपेक्षा) ।
मत—ब्रह्मात्मैक्य अद्वैत— ईश्वर अद्वैत है—	जीव ब्रह्म पृथक्त्व—अद्वैतवाद
ब्रह्मस्वरूप—निर्गुण नित्य शुद्ध बुद्ध	(१)—निर्गुण निराकार अथवा (२)—सगुण या साकार
साधन—यमनियम, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान- धारणा, समाधि, सत्संगति तथा सत्संग और सद्गुरु ।	केवल प्रेम, निरंतर ध्यान, सत्संगादि नवधा भक्ति
भाव—ब्रह्मात्मैक्य जीव माया- धीश है	सेवक सेव्य । ईश्वर मायाधीश है । जीव उसका सेवक ।
श्रेणी—(१) ज्ञान, तल्लीनता अथवा (२) ज्ञान हो जाने पर भी भक्ति ।	(१) भक्ति के बाद ज्ञान अथवा (२) सदा भक्तिरत
उपाय—कर्मयोग अथवा संन्यास	कर्मयोग या कर्म-संन्यास

दोनों का फल

ईश्वर-प्राप्ति या आत्मानुभव परमानन्द-प्राप्ति, दुःखनाश, समत्व दृष्टि, आवागमन से मुक्ति, अविचल भक्ति, जन्म-मरण के बंधन से छूटना या जन्म-मरण होते हुए भी उसमें न फँसना । नीतियुक्त परोकारमय सेवाप्रधान जीवन ।

तुलसीदास की उपासना, उपास्य और उपासक

प्रत्येक मनुष्य को सुख का लोभ तथा दुःख का भय संसार में कर्म करने की प्रेरणा करता है। धार्मिक क्षेत्र में भी वह इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर उतरता है। इसी प्रवृत्ति को देखकर गोसाईंजी ने मन को संबोधित किया है—

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख

जौ चाहसि मन मेरो;

तौ भजु राम काम सब पूरन

करहि कृपानिधि तेरो ॥

(विनय०)

“साध्य समन्वय” में कहा जा चुका है कि प्रारंभ में मनुष्य कामना-पूर्ति ही की ओर झुकता है। बाद में उनकी व्यर्थता देख कर ऊँची वस्तुओं की इच्छा करता है। वह दुःख से छूटना चाहता है, इसी लिए जन्म, मरण आदि के दारुण दुःखों का वर्णन कर उनसे छूटने के लिए भक्ति-प्राप्ति ही एक मात्र साधन बताया है—

पायो जो दारुन दुसह दुख सुख लेस सपनेहु नहिं मिल्यो;
भव सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चलयो ।

मनुष्य को कुमार्ग से रोकने के लिए दुःख का भय बताना आवश्यक हो जाता है । इसी लिए स्वर्ग, नरक आदि की कल्पना की गई है । जिन लोगों पर ऊँची भावनाओं का असर नहीं होता, उनके लिए कालरूप ईश्वर का दंड ही काम करता है :—

तिन कहँ काल रूप मैं ताता । सुभ अरु असुभ करम फलदाता ॥

ऐसे लोगों के लिए गोसाईंजी ने भी पुराणों के समान नरक तथा कुयोनियों में जन्म आदि के त्रास दिखलाए हैं । यथा :—

सब कै निंदा जे जड़ करहीं । ते चमगादर होइ अवतरहीं ॥

असभ्य जातियों के देवता जिस प्रकार बलिपूजा पाने पर तुष्ट होते हैं, उसी प्रकार उसे न पाकर रुष्ट होकर अनिष्ट भी कर बैठते हैं । सभ्य जातियों के देवता पूजा पाने पर विशेष उपकार करते पाए जाते हैं । इसलिए उनके प्रति भय, लोभ वा कृतज्ञता के भाव उदय होते हैं ॥ गोसाईंजी ने केवल कृतज्ञता के भाव को उत्तेजन दिया—वह भी केवल मनुष्य की ओर से ; ईश्वर को उसकी भी आवश्यकता नहीं । वे तो सूरदास के शब्दों में—

वदन प्रसन्न कमल पद सन्मुख दीखत ही है जैसे ।

विमुखहु भए कृपा वा मुख की जब देखौ तब तैसे ॥

अथवा तुलसीदासजी के शब्दों में—

सन्मुख विमुख न काहुहिं काऊ ।

रीमे बस होत खीमे देत निज धाम रे ।

फलत सकल फल कामतरु नाम रे ॥

उनकी तुष्टि और रोष दोनों ही फलप्रद हैं ।

रही देवता से माँगने-जाँचने की बात, सो उसका भक्ति-मल में कोई स्थान नहीं । भागवत में तो यहाँ तक कह दिया है

कि जो भक्त भक्ति के बदले कामना करता है वह भक्त नहीं, लेन-देन करनेवाला बनिया है :—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ।

तुलसीदासजी भी उसी को हरि का सेवक मानते हैं, जिसने आशा को जीत लिया है । कामभक्त या दामभक्त रामभक्त कैसे हो सकता है ?

जे लोलुप भए दास आस के ते सब ही के चेरे ।

प्रभु बिस्वास आस जीती जिन ते सेवक हरि केरे ॥ (विनय०)

उनकी निष्कामता यहाँ तक बढ़ी कि अर्थ, धर्म या काम तो दूर रहा, मोक्ष या निर्वाण की इच्छा करना भी उन्होंने उचित नहीं समझा । पुनर्जन्म न होने की कामना को भी त्याग कर भक्त माँगता है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निर्बान ।

जनम - जनम रति रामपद यह वरदान न आन ॥

प्रभु-विश्वास और दूसरे की आशा ये दोनों बातें परस्पर-विरोधी हैं । इसी लिए उनका मत राम के कथन से स्पष्ट है—

मोर दास कहाय निज आसा । करइ तो कहहु कहाँ बिस्वासा ॥

सर्वदेव-समन्वय

समन्वयवादी होने के नाते तुलसीदासजी कुलदेवता, ग्राम-देवता आदि सभी को मानते हैं; किंतु उस पूजा में से कामना, द्वेष या पक्षपात की भावना निकाल देने से वे देवता रामरूप और राम सर्वदेवमय बन जाते हैं । इस कारण उनके देवताओं में यहूदी जाति के यह्वा और मिस्र के देवताओं के समान अल्ला और ईसा, खुदा या राम, विष्णु या शिव के उपासकों में जातिगत युद्ध हानि की कोई संभावना नहीं । तुलसीदासजी ने तो राम और रावण दोनों प्रतिपक्षियों को

शंकर ही का उपासक बतलाया है—शंकर राज्ञसों के देवता होने के नाते राम के लिए त्याज्य नहीं। उनके लिए शंकर “जगद्वंद्व जगदीश” हैं। वे “शिवद्रोही निज दास” की जितनी निंदा करते हैं, उतनी ही विष्णुद्रोही शिवभक्त की भी। उनके स्वामी तो सचराचर रूप भगवंत हैं—उसमें सभी देवताओं का समावेश हो जाता है।

तुलसीदास और तांत्रिक पद्धति

तुलसीदासजी की उपासना-पद्धति में सभी को स्थान है। यदि आपको तांत्रिक देवताओं से प्रेम है तो वही सही। वीर के साधन से सिद्धि प्राप्त करनी है तो उससे भी बड़े महावीर मौजूद हैं। उससे भी कामना-पूर्ति हो सकती है :—

वीर महा अवराधिये, साधे सिधि होय ।

सकल काम पूरन करै जानै सब कोय ॥

बीज मंत्र जपना है तो राममंत्र जपिए, तर्पण करना है तो प्रेमवारि से तर्पण कीजिए, यज्ञ करना है तो क्षमा की अग्नि में संशयरूपी समिध जलाकर स्नेहरूपी घृत की आहुति डालिए और यदि बलिदान करना है तो ममता की बलि दीजिए :—

बीज मंत्र जपिए सोई जो जपत महेश ॥

प्रेमवारि तर्पन भलो, घृत सहज सनेह ।

संसय समिध अग्निनि क्षमा, ममता, बलि देह ॥

यदि तांत्रिक पद्धति ही प्रिय है तो पाप का उच्चाटन, मन का वशीकरण, मद - मार का मारण और सुख - संपदा का आकर्षण कीजिए :—

अत्र उचाटि मन बस करै मारै मद मार ।

आकरषै सुख संपदा संतोष बिचार ॥

गोसाईंजी को जो पूजापद्धति (उपासना कहना अधिक उपयुक्त होगा) पसंद थी, उसमें उन्होंने अन्य पद्धतियों का समन्वय करते हुए भी अपनी विशेष पद्धति का उपदेश दिया है। इसमें एक ही साधन से सब ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं—

एक ही साधन सब ऋद्धि सिद्धि साधु रे।

लोग काल-रूप ईश्वर से भय के कारण डरते हैं, प्रेम नहीं करते। उसे प्रसन्न करने के लिए वे बलिदान, पूजा आदि का विधान करते हैं। तुलसीदासजी इस प्रकार के बलि पूजा चाहने-वाले शासक रूप ईश्वर की ओर से हटाकर लोगों को केवल प्रेम चाहनेवाले स्वामी राम की ओर ले जाते हैं। भय के स्थान पर सौंदर्य आकर्षित करता है :—

है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।

सुभग सरोरुह लोचन सुठि सुंदर स्याम ॥

उसके बाद उनकी भक्ति—

भुज बिसाल सर धनु धरे कटि चारु निषंग।

किंतु इससे भी अधिक उनका शील हमारे मन पर अधिकार कर लेता है—

बलि पूजा चाहत नहीं, चाहै एक प्रीति।

सुमिरत ही मानै भलो, पावन सब रीति ॥

इस प्रेम रूप की आराधना ही सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति का एक मात्र का मार्ग है :—

देइ सकल सुख दुख दहै आरत जन बंधु।

गुन गहि अघ अवगुन हरें, अस करुनासिंधु ॥

इस प्रकार वे हमें सौंदर्य-सिंधु और शक्ति-सिंधु के बाद करुणासिंधु की ओर ले जाते हैं। शैंड के अनुसार “व्यक्ति की व्यवहारपद्धति जब प्रकृतिस्थ हो जाती है तब वह शील कहलाती

है ।^१ भगवान् की अनंत शक्ति और अपार सौंदर्य के योग में उनके अनंत शील की जो मधुधारा प्रवाहित होती है वह प्रकृति को मधुर कर देती है ।^२

“भक्तों की भावना” में हम कह चुके हैं कि कठोर शासक के स्थान पर कोमल बंधुभाव से मधुर कांत या सखा भाव से हमें प्यार करता है और कृपालु स्वामी भाव से या पिता रूप से कृपा । भक्ति या दंड नीति के बदले प्रीति नीति काम करने लगती है । वह अगम होकर भी माता पिता के समान सुगम है :—

मुनि मन अगम सुगम माय बाप सो ।

कृपासिंधु सहज सखा सनेही आप सो ॥

तुलसीदास जी ने स्वामी सखा पुत्र पिता माता गुरु के रूप में राम की उपासना बताई है । कृष्णभक्तों का शांतभाव उन्हें पसंद नहीं आया । शायद उसका शृंगारिक रूप से इस प्रकार दुरुपयोग होते देख उन्होंने उसे उपादेय नहीं समझा । इनके लिए उन्होंने एक और नया भाव जोड़ दिया वैरभाव । विपरीत भावों से स्मरण करने का उल्लेख हमें भागवत में भी मिलता है ।

रंजन, पालन और रक्षा

जिन मनोविकारों या भावों के बल से भक्त से सारे शील धर्म का पालन अनायास होता जाता है वे प्रेम और करुणा हैं । करुणा की प्रेरणा से रक्षा की ओर प्रवृत्ति होती, प्रेम की प्रेरणा से पालन और रंजन की ओर । जगत् के रक्षक, पालक और रंजक भगवान् की लीला के श्रवण और कीर्तन से ये प्रवृत्तियाँ उद्बुद्ध, उद्दीप्त और परिपुष्ट होती चली जाती हैं ।

(१) Shand : Foundations of character.

(२) पं० रामचंद्र शुक्ल : सूरदास पृ० ९५

इसी कारण तुलसीदास जी ने हमारे सामने भगवान् के ये तीनों रूप उपासना के लिए रखे हैं :—

जन रंजन भंजन महि भारा ।

+ + +

जो भव भय भंजन, मुनि मन रंजन गंजन विपति बरूथा ।

×

×

×

जय जय सुरनायक, जन सुखदायक, प्रनतपाल भगवंता ।

देवताओं ने अवतार धारण करने के लिए भगवान् की जो उक्त स्तुति की उसमें उनकी तीनों रूपों से आराधना की ।

कृष्णोपासक भक्तों ने लोकपक्ष को छोड़ दिया है और भगवान् के रक्तक, पालक और रंजक रूपों में से उन्होंने रंजक रूप ही छाँट लिया है ।^१

इनका सर्वप्रथम प्रचार वल्लभाचार्य ने सब से अधिक किया । इनका प्रभाव केवल कृष्णभक्त शाखा ही तक सीमित नहीं रहा बरन् सारे भारतवर्ष के भक्ति माग पर पड़ा ।

कहा जा चुका है कि शंकराचार्य ने ब्रह्म और जगत् सोपाधि ब्रह्म को जगत् का निमित्त और उपादान कारण दोनों माना है ।^२ उन्होंने ब्रह्म को परिणामी या विकारी नहीं माना । भिन्न भिन्न आचार्यों का इससे कुछ मतभेद रहा । रामानुज और श्रीकंठ ने चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के शरीर को उपादान कहा । भास्कर और निम्बार्क ने ब्रह्म की शक्ति को, विज्ञान भिन्नु ने प्रकृति को, जो कि ब्रह्म से अविभक्त है, उपादा माना ।

विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य ने ही साहस के साथ सीधे ब्रह्म का परिणाम स्वीकार किया । उन्होंने कहा कि अक्षर (ब्रह्म)

(१) आचार्य रामचंद्र शुक्ल, सूरदास पृ० ९१

(२) गो० तुलसीदास की समन्वय-साधना, प्रथम भाग निगुण-सगुण समन्वय ।

अपनी आविर्भाव तिरोभाव की अचिंत्य शक्ति से जगत् के रूप में परिणत भी होता है और उसके परे भी रहता है । ब्रह्म का यह परिणाम रूप अर्थात् जगत् असत्या मिथ्या नहीं—वह भी सत् है ।

तुलसीदासजी ने शंकराचार्य के समान ब्रह्म को अधिकारी मानते हुए भी उसे वल्लभाचार्य के समान जगत् रूप में परिणत माना है ।^१ उन्होंने ब्रह्म को केवल चित् माना है—चिदचिद्विशिष्ट नहीं । जगत् को ईश्वर का काय होने के कारण कभी वल्लभ के समान ब्रह्म से अनन्य और सत् भी माना है^२ और कभी शंकर के समान आभास मात्र होने के कारण असत् कहा है ।^३ इसका विस्तृत विवेचन “द्वे ताद्वैतसमन्वय” में हो चुका है ।

कभी कभी उन्होंने तीनों प्रकार के मतों का उल्लेख कर तीनों को भ्रम कह दिया है ।—

कोउ कह सत्य भूठ कह कोऊ

युगल प्रबल करि मानै ।

तुलसीदास परिहरै तीव्र भ्रम

सो आपन पहिचानै ॥ (वि० प०)

कभी वे शंकर के समान माया को ब्रह्म पर आभास मात्र मानते हैं^४ तो कभी ब्रह्मसूत्र या विज्ञानभिड्ड के समान उसे ब्रह्म

(१) रामचंद्र शुक्ल; सुरदास पृ० ११०

(२) विश्व विख्यात विश्वेश विश्वायतन भुवन भवदंग (विनय)

(३) आदि मध्यांत भगवंत एवं सर्वगतमीश पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी । यथा पटतंतु घट मृत्तिका सर्प स्रग दाह करि कनक कठ-कांगदादी । (विनय०)

(४) कहि न जाय मृगवादि सत्त्व (विनय)

(ख) रजत स्त्रीप महँ भास जिमि यथा मानुकर वारि ।

अद्वि मृषा तिहुँ काळ महँ, भ्रम न सकै कोउ टारि ॥ (मानस)

से अविभक्त मानते हैं। इतना ही नहीं किंतु प्रकृति और उसके विकारों को भी ब्रह्मरूप मानते हैं^१, साथ ही ब्रह्म को जगत् का कर्त्ता और कर्म-कारण और करण—(निमित्त कारण और उपादान) दोनों मानते हैं।^२ इसके विपरीत उन्होंने निवारक के समान ईश्वर की शक्ति (प्रकृति) को जगत् का कारण माना है।^३ सर्वमत-समन्वय की दृष्टि से उन्होंने इन सभी को मान्यता दी है।

“द्वैताद्वैत समन्वय” में हम जीव ब्रह्म संबंधी विचारों का भी विवेचन कर चुके हैं। संक्षेप में ब्रह्म और जीव के संबंध में भी जो आचार्यों के भिन्न मत हैं उनका भी तुलसीदासजी ने समन्वय किया है। ब्रह्मसूत्रकार जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं^४ किंतु शंकर ब्रह्म को निष्कल निरवयव मानने के कारण जीव को उसका अंश स्वीकार नहीं करते वरन् ब्रह्मरूप ही मानते हैं।^५ वल्लभाचार्य ने जीव को ब्रह्म का वास्तव अंश माना है।^६ विज्ञान भिन्न भी इससे सहमत हैं। रामानुज ने अंश का अर्थ, विशेषण, लिया है और निम्बार्क ने ‘शक्ति।’

तुलसीदासजी ने शुद्ध रूप में जीव को ब्रह्म से अभिन्न

(१) प्रकृति महत्तत्त्व सद्भादि गुण देवता व्योम महद्गति अम-
बांधु उर्वी ।

.....सर्व मेवात्र त्वद्रूप (विनय)

(२) अखिल विश्व कारन करन (मानस)

विश्व पोषन भरण विश्व कारन करन (विनय)

(३) जो स्रजति जग पावति हरति रुख पाइ कृपानिधान की (मानस)

(४) अंशो नानास्यपदेशात् (ब्रह्मसूत्र)

(५) तत्त्वमसि ।

(६) विष्णुर्ब्रह्मा यथाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्मता :

माना है^१ किंतु भक्तिपक्ष में उनका मत जीव को ईश्वर का अंश रूप मानने ही की ओर झुकता है।^२

जीव के स्वरूप के संबंध में आचार्यों ने जीव को अणुरूप माना है। (इसी कारण वल्लभाचार्य ने शायद अपने भाष्य को अणु भाष्य कहा है)।

इस संबंध में तुलसीदासजी का मत उनसे अधिक मिलता है। स्वरूप तो जीव का ईश्वर के समान ही सत् चित् आनंदरूप है^३ किंतु उसकी मात्रा में अंतर है। ब्रह्मसूत्र कहता है कि जीवात्मा ब्रह्म से अनन्य है किंतु ब्रह्म अधिक है।^४ तुलसीदास भी इस भेद को मानते हुए कहते हैं कि जीव परवश है ईश्वर स्ववश है, जीव अनेक हैं ईश्वर एक है।^५ यदि यह भेद मिट जावे तो दोनों एक हो जाते हैं। इस परिभाषा के अनुसार हमें तुलसीदासजी को 'शुद्धाद्वैत' का प्रतिपादक कह सकते हैं।

वल्लभाचार्य ने भी ईश्वर को सत् चित् और आनंदमय माना है। सत् और चित् का अंशतः प्रकाश ही ब्रह्मांश में जीव कहा जायेगा। अतः उसमें आनंद का भी अंशतः प्रकाश मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।^६ उनके आविर्भाव-तिरोभाव के सिद्धांतानुसार ये शक्तियाँ जीव में आवृत और अनावृत होती रहती हैं। इस प्रकार दोनों के मत मिल जाते हैं।

वल्लभाचार्यजी ने जीवों के लिए 'तीन मार्गों' का वर्णन

(१) सो मैं ताहि तोहि नहिं भेदा । वारि बीषि ह्व गावहिं वेदा ॥ (मानस)

(२) ईश्वर अंस जीव अविनासी । (मा० उ०)

(३) सत चेतन घन आनंद राखी (मानस)

(४) अधिकं तु भेदनिर्देशात्—(ब्रह्मसूत्र) २—१—२८

(५) परवस जीव स्ववस भगवंता । जीव अनेक एक श्रीकंता ॥ (मानस)

(६) रामचंद्र शुक्ल : सूरदास : वल्लभाचार्य पृ० १२६

किया है—प्रवाहमार्ग, मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग । प्रथम मार्ग विषयी जीवों के लिए, दूसरा वेद-प्रतिपादित कर्म ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग और तीसरा भगवान् का पोषण या अनुग्रह^१ चाहनेवाले भक्तों का है । वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग ग्रहण किया, तुलसीदासजी ने ईश्वरानुग्रह या कृपा का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी^२ “हरिभगति पथ” में “श्रुति संमत” और “संमत विरति विवेक” जोड़ कर उसे मर्यादा मार्ग से समन्वित कर दिया है । प्रेम की महत्ता जैसी पुष्टिमार्ग में है वह तुलसीदासजी को भी स्वीकृत है ।^३ फलाकांक्षा तथा लोकवेद दोनों के प्रलोभनों का त्याग वल्लभाचार्य के समान उनको स्वीकृत है ।^४

सर्वस्व समर्पण की भावना उनमें भी वैसी ही बलवती है । वल्लभाचार्य के समान बिना प्रेम की पूजा तुलसीदासजी को भी पसंद नहीं ।^५ वे भी ‘सेवा’ चाहते हैं ; क्रियात्मक सेवा

(१) पोषणं तदनुग्रहः—भागवत

(२) जब कब निज करुना सुभाव तै द्रबहु तौ विस्तरिये (बिनय)

(३) तुलसीदास भव रोग रामपद प्रेम हीन नहि जाई (वि०)

(४) हृदय न कछु फल अनुसंधाना ।

स्वारथ कुछ फल चारि बिहाई । (मा०)

अजस होउ बर सुखस नसाऊँ ।

नरक परौ बर सुरपुर जाऊँ ॥ (मा० म०)

को जानै को जैहै सुरपुर को अमपुर परधाम को ।

तुलसी मोहि भबो जागत जग जीवन राम गुलाम को ॥

(५) ज्ञान विराग योग जप तप मख

जगमुद मग नहिं थोरे ।

राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे

मृगजल जलधि हिलोरे ॥

शायद उनमें बल्लभाचार्य से अधिक मात्रा में है। केवल 'तनुजा सेवा' की अपेक्षा वे 'चित्तजा सेवा' को अधिक महत्त्व देते हैं।^१

लोक-वेद के प्रलोभनों के त्याग का यह अर्थ कदापि नहीं कि मनुष्य दोनों से विमुख हो जावे, वरन् तुलसीदासजी का मत है कि लोक को देखकर तथा वेद पुराणों को समझने और मुक्त से ज्ञान प्राप्त करने के बाद भी रामपद-प्रीति ही को अंतिम आश्रय बनाना चाहिए।^२ भक्ति के लिए वे लोक और वेद दोनों का त्याग नहीं चाहते जैसा कि पुष्टिमार्गी कहते हैं :—
'लोक वेद कुल करमै तजिये।'

लोक-वेद का भक्ति के साथ समन्वय करने के कारण तुलसीदास लोक-संग्रह और वेद दोनों की दृष्टि से अधिक उपादेय हो जाते हैं।

बल्लभाचार्य ने तीन मार्गों के अनुसार तीन प्रकार के जीव भी माने हैं—पुष्टि जीव, मर्यादा जीव और प्रवाह जीव। लौकिक सर्गपरंपरा का उच्छेदन करनेवाले प्रवाह जीव, वेद-नियमों का अतिवर्तन न करनेवाले मर्यादा जीव तथा स्वरूप-निश्चय के द्वारा पुष्टिप्रयुक्त भक्तिमार्गानुरागी पुष्टि जीव हैं। अंतिम दो को निंदा कर पुष्टि जीव ही की उपादेयता

(१) अंतर मज्जन विषय मन अति

तनु पावन करिय पखारे।

मारह न उरग अनेक जतन

बल्लभीक विविध विधि मारे ॥

(२) लोक विजोकि पुरान वेद सुनि

ससुम्नि बूझि गुरु ज्ञानी।

प्रीति प्रतीति रामपद पंऊज

सकल सुमंगल खानी ॥

वल्लभाचार्य ने मानी है। तुलसीदासजी तीनों के समन्वय के उपासक हैं। लोक-समग्र के लिए प्रवाह जीव, वेद-मर्यादा के लिए मर्यादा जीव तथा भक्ति की पुष्टि के लिए पुष्टि जीवों की आवश्यकता है। किंतु जिसमें तीनों का समन्वय हो वही तुलसीदास के मतानुसार पूर्ण या आदर्श जीव कहा जावेगा।

पुष्टि मार्ग में माना गया है कि पुष्टि सृष्टि ब्रह्म के आनंद से होने के कारण आनंद-प्रधान, मर्यादा सृष्टि उसके वचस् से होने के कारण चित्प्रधान तथा प्रवाहसृष्टि सत् से होने के कारण सदंशप्रधान होती है। क्या इन तीनों गुणों के समन्वय के बिना कोई जीव-सृष्टि पूर्ण हो सकती है? 'सत चेतन, घन-आनंदरासी' बनने पर जीव को अपने "सहज स्वरूप" की प्राप्ति हो सकती है। एकांगी उन्नति कभी पूर्णता की ओर नहीं ले जा सकती।

वल्लभाचार्यजी ने प्रवाह जीवों को आसुरी कह कर उनके दुर्ज्ञ और अज्ञ दो भेद किए हैं। तुलसीदासजी ने भी विषय-निरत लोगों को निशाचर की उपाधि दी है तथा अनासक्त रह कर लोक-मर्यादा चलानेवाले कर्मयोगियों की प्रशंसा की है।^१ इनके अतिरिक्त संबंधि जीवों का वर्णन आचार्य ने किया है। तुलसीदासजी ने भी अस्थिर चित्त वालों की चर्चा की है।^२

यदि वल्लभाचार्य के लिए श्रीकृष्ण परमात्मा हैं तो तुलसीदास के लिए श्रीराम। वे ही सब देवताओं के अंतर्धामी के रूप से परिपालन करते हैं। वल्लभ के अनुसार

(१) जे निरखेप बिरंचि उपाये । पदम पत्र जिमि जग जख जाये ॥

×

×

×

जेहि बन भरत बसहि बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ॥ (मा०)

(२) कबहुँ भोग रत योग निरत शठ हठ बियोगबस होई ।

श्रीकृष्ण का दिव्य सत्त्वगुण बिष्णु, दिव्य रजोगुण ब्रह्मा तथा दिव्य तमोगुण रुद्र रूप से सृष्टि का पालन, सृजन और संहार करता है। “सर्वदेव-समन्वय” में हम दिखा आए हैं कि तुलसीदास ने कहीं त्रिमूर्ति को राम रूप मान कर और कहीं उन सबके प्रेरक रूप से सबसे परे माना है।^१ वहाँ श्रीकृष्ण और यहाँ श्रीराम पुरुषोत्तम हैं। उनका शरीर सत्चित् आनंदमय हैं। यहाँ राम के लिए भी तुलसीदास की यही मान्यता है।^२ दोनों हो कभी चतुर्भुज और कभी द्विभुज रूप में अपने “व्यापी वैकुण्ठ” या साकेत में नित्य लीला करते रहते हैं।^३

वल्लभाचार्य ने माना है कि श्रीकृष्ण अक्षर ब्रह्म होकर सृष्टि के मूल कारण होते हैं तथा उनके दो रूप हैं—भक्तों के लिए पुरुषोत्तम धाम और ज्ञानियों के लिए निर्गुण अनंतरूप। यह भी तुलसीदास के निर्गुण और सगुण के समकक्ष हैं।

वल्लभाचार्य इन दोनों से परे जो पुरुषोत्तम रूप मानते हैं वह गीता के अनुकूल ही है।^४ तुलसीदास जी ने भी राम को निर्गुण और सगुण रूप तथा दोनों से परे साकेतवासी पुरुषोत्तम के रूप में माना है।

भक्तों की परम गति और ज्ञानियों की परम गति में भी उन्होंने अंतर माना है। भक्तों का सायुज्य आनंदप्रधान ब्रह्म के असली रूप में और ज्ञानियों का कैवल्य ब्रह्म के अंशतः

(१) विधिहि विधिता, शिवहि शिवता। हरिहि हरिता जेहि दई।

सोई जानकीपति भधुर मूरति मोदमय मंगलमई ॥ (मानस)

(२) चिदानंदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी ॥

(३) भूप रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप देखावा ॥

(४) यस्माक्षरमतीतोऽहं अक्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गी० १५—१८)

तिरोहित रूप में होता है। तुलसीदासजी ने कैवल्यपद को परम दुर्लभ पद माना है ;^१ किंतु उसे भक्तों की सायुज्य मुक्ति के समकक्ष ही रखा है, यद्यपि वह अपेक्षाकृत सरल अवश्य है।^२

ज्ञानमार्गियों ने ब्रह्म के निर्गुण रूप को ही पारमार्थिक या असली रूप कहा है और सगुण स्वरूप को व्यावहारिक या मायिक। आचार्यजी ने बात उलट कर सगुण स्वरूप ही को असली और श्रेष्ठ रूप बताया है और निर्गुण को उसी का अंशतः तिरोहित रूप।^३

“निर्गुण सगुण समन्वय” में हमने दिखाया है कि तुलसीदास ने निर्गुण सगुण रूपों की भक्तियों तथा मुक्तियों में कोई ऐसा भेद भाव नहीं माना।

भगवान् के समान उनका पुष्टिमार्गी भक्त भी सत्चित् आनंदमय तथा नित्य सत्त्वस्थ रहता है।^४ तुलसी भी भक्त या संत और भगवंत में कोई अंतर नहीं मानते।^५

चतुर्विध भक्ति—पुष्टिमार्ग में भक्ति चार प्रकार की कही गई है। तुलसीदासजी ने गीता के अनुसार भक्तों के जो चार भेद किए हैं, उनकी चर्चा की जा चुकी है। दोनों में कुछ अंतर है। १ प्रवाह पुष्टि भक्तिवाले विषय-सेवन के साथ भगवान् की प्राप्ति के लिए कर्म करते रहते हैं। भागवत की परिभाषा में ये “अजितेन्द्रिय भक्त है”।^६ तुलसीदासजी ने अपने को इसी श्रेणी में गिनाया है।

(१) अति दुर्लभ कैवल्य परमपद ।

(२) राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं । अन इच्छित आवइ वरिआई ॥ (सा०)

(३) पं० रामचंद्र शुक्ल : सूरदास : वल्लभाचार्य (पृ० १२३)

(४) निद्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।

(५) संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं (विनय) ।

(६) मद्भक्तः अजितेन्द्रियः—(भागवत)

२ मर्यादा पुष्टि भक्ति संयमो भक्तों के लिए है। तुलसी के आदर्श भक्त इसी प्रकार हैं। सुनीक्षण इसके उदाहरण हैं।^१

३ पुष्टि पुष्टि भक्ति—पहले से पुष्टिप्राप्त भक्ति के साथ ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं जो गीता के ज्ञानी भक्तों के समकक्ष हैं। तुलसीदासजी ने मर्यादा के साथ ज्ञान का समन्वय कराया है जिसके आदर्श शंकर हैं।

४ शुद्ध पुष्टि भक्ति वाले केवल भगवत्प्रेम में मग्न रहते हैं। उनका भजन कीर्त्तन व्यसन हो जाता है।^२ इनके उदाहरण सनकादि हैं। भगवान् को सवत्र देखना इनका मुख्य लक्षण है।^३

तुलसीदासजी ने जीवों को धर्मशील, विरक्त, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और विज्ञानी तथा भक्तिरत—छः श्रेणियों में विभाजित कर उनको उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बतलाया है।^४

ज्ञानियों के बाद जीवन्मुक्त और विज्ञानी की श्रेणियों से निश्चय हो जाता है कि तुलसीदासजी पुष्टि मार्ग की अपेक्षा ज्ञानपक्ष को अधिक महत्त्व देते थे। वल्लभाचार्य ने भक्ति की जिन तीन भूमियों—प्रेम, आसक्ति और व्यसन—की चर्चा की है

(१) षड् विकार भित अनघ अकामा ।

(२) आसा वसन व्यसन यह तिनहीं । जहँ हरिचरित होइ तहँ सुनहीं ॥

(३) जहँ तहँ दीख परे धनु बाना ।

(४) धर्मशील विरक्त अरु ज्ञानी । जीवन्मुक्त ब्रह्म पर पानी ॥

सपने सो दुर्लभ सुरराया । रामभगति रत गत मद माया ॥

पुष्टि मार्ग की प्रथम श्रेणी के समकक्ष विषयरत किंतु धर्मशील है, द्वितीय के विषय-विरक्त, तृतीय में ज्ञानी जीवन्मुक्त और विज्ञानी तीनों का समावेश हो सकता है और चौथा परमभक्त है।

उनमें ज्ञान की भूमिका को बिल्कुल भुला दिया है। तुलसी की भूमिकाएँ शायद इस प्रकार होंगी—प्रेम, विरक्ति, ज्ञानपूर्वक भक्ति और परम प्रेम।

दार्शनिक विचारों में वल्लभाचार्य से तुलसीदास का जितना साम्य है उतना ही उनकी पूजापद्धति से भेद जान पड़ता है। उन्होंने प्रारंभिक रूप में मूर्तिपूजा का विधान अवश्य किया है^१ किन्तु वह पुष्टिमाग के समान न तो विस्तार और आडम्बर-पूर्ण है और न उसमें भोग वासना का आभास मिलता है।^२

पुष्टिमाग में स्रष्टा रूप से शील और त्याग का अंतर्भाव सच्च कोटि की भक्ति में न करने से और उन्हें तीसरी श्रेणी में रखने से भ्रम के लिए बहुत जगह रह गई।^३

उधर तुलसी के अनुसार “शील का प्रकृतिस्थ हो जाना ही भक्ति का लक्षण है।”

दूसरे पुष्टि माग में ‘ब्रह्म क्रीड़ा या लीला को सत् चित् आनंद को लौकिक स्वरूप देकर ब्रह्म के आनंद स्वरूप को बहुत परिमित कर दिया” जब कि तुलसीदास ने ब्रह्म की बिराट् लीला की ओर से कभी लक्ष्य नहीं हटाया। “ब्रह्म लोक रक्षण और पालन में सत् स्वरूप का प्रकाश करता है और रंजन द्वारा अपने आनंद स्वरूप का।”^४ पुष्टिमाग में आनंद स्वरूप से सत् स्वरूप का विच्छेद हो गया; किन्तु तुलसी में वह नहीं हो पाया। वल्लभाचार्य कृष्ण के ऐश्वर्य रूप को छोड़कर उनके केवल माधुर्य रूप को लेकर चले जब कि तुलसीदास ने राम रूप में दोनों का समन्वय कर दिया। माधुर्य रूप में प्रेम अवश्य उत्पन्न हुआ किन्तु महत्त्व

(१) कर नित करहिं राम पद पूजा ।

(२) रामचंद्र शुक्ल: सुरदास: वल्लभादास पृ० १२६

(३) वही पृ० ११७

(४) वही पृ० १२६-३०

दर्शन से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसके अभाव में उनके राम के समान सर्वतोमुखी लोक-संग्रहकारी रूप प्रकट नहीं हो पाया जो तुलसी ने प्रकट किया ।

जगत्पालक विष्णु नाना रूपों में अवतीर्ण होकर उसका रक्षण, पालन तथा पोषण करता है । यही भावना अवतारवाद के मूल में है ।

भागवत के अनुसार भगवान् तीन रूपों से वैकुण्ठ में निवास करते हैं—स्वयं रूप, तदेकात्मरूप तथा आवेशरूप । इन्हीं के अनुसार अवतारों का भी विभाजन हुआ है । राम कृष्ण को स्वयं रूप, मत्स्यादि को तदेकात्म रूप तथा महात्माओं को आवेश रूप माना जाता है । अवतारों का तीन भिन्न प्रकारों से विभाजन किया गया है—पुरुषावतार, गुणावतार और लोलावतार । पुरुषावतार के भी तीन विभाग किए गए हैं—प्रथम पुरुष (महत्तत्त्व के कर्त्ता), द्वितीय पुरुष (सृष्टि के अंतर्धामी) तथा तृतीय पुरुष (अहंकार के अंतर्धामी) ब्रह्मा विष्णु शिव [रज सत् और तम] गुणावतार हैं । सनकादि से लेकर कल्कि तक चौबीस लोलावतार हैं । विशिष्टाद्वैत के अनुसार अवतार पाँच प्रकार के होते हैं ! पर, व्यूह, विभव, अंतर्धामी और अर्चावतार । तुलसीदासजी ने रामावतार में इन सभी का समन्वय किया है ।

पर रूप के छः गुण विग्रह होते हैं :—ऐश्वर्य, शक्ति, तेज, ज्ञान, बल और वीर्य । रामरूप में इन छहों गुणों का प्रकाश हमें मिलता है । यह रूप पर आनंद मय है ।

“चिदानंद मय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी” ॥

यह अनंत भी है :—

राम अनंत अनंत गुणानी । अगन्ति जनम करम नामानी ॥

छः गुणों का परिचय देखिए :—

ऐश्वर्य—रोम रोम प्रति राजहीं, कोटि कोटि ब्रह्मंड ।

शक्ति—दुर्गा कोटि सरिस अरि-मर्दन ।

तेज—रबि सत कोटि प्रकास ।

ज्ञान—सारद कोटि अमित चतुराई ।

बल—मरुत कोटि सत विपुल बल ।

वीर्य—काल कोटि सत सरिस अति दुस्तर दुग दुरंत ।

धूमकेतु सत कोटि सम दुराधर्ष भगवंत ॥

व्यूह—व्यूहरूप सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय के लिये है ।

विष्णु कोटि सत पालन करता ।

रुद्र कोटि सत सम संहरता ॥

विभव—विभवरूप नरलीला के लिये होता है—

“जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा ।

तुमहिं लागि धरिहौं नर वेषा ॥

अंतर्यामी—यह सब के अंतःकरण में प्रवेश कर नियंत्रण करता है—

जय जय अविनासी सब घटवासी व्यापक परमानंदा ।

अर्चावतार रूप हृदय में अधिष्ठित रहता है ।

जो स्वरूप बस सिव मन माहीं ।

जेहि कारन मुनि जतन कराहीं ॥

पं० बलदेवप्रसादजी मिश्र के शब्दों में

“तुलसी-मत न केवल मानवधर्म और भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ बातों को समेटे हुए है बरन वह गीता से लेकर गांधी-वाद तक समग्र धर्म-प्रवर्तकों के सत्सिद्धांतों को भी अपनी गोद में खिला रहा है । गीता का अनासक्तियोग, बौद्धों और जैनों

का अहिंसावाद, वैष्णवों और शैवों का अनुराग-वैराग्य, शाक्तों का जप, शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्ति-भावना, निम्बार्क का द्वैताद्वैत भाव, मध्व की रामोपासना, बल्लभ का बालरूप आराध्य, चैतन्य का प्रेम, गोरख आदि योगियों का संयम, कबीर आदि संतों का नाम-माहात्म्य, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, ब्रह्मसमाज की ब्रह्मकृपा, आर्यसमाज का आर्य-संगठन और गांधीवाद की सत्य-अहिंसामूलक अस्तित्वता-पूर्ण लोकसेवा आदि आदि सब कुछ तो उसमें है ही, साथ ही मुसलमानों का मानव-बंधुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा कारण से पूर्ण सदाचार भी उसमें ब्रीड़ा कर रहे हैं।”



साधन-समन्वय

ब्रह्म-साधन

राम जी ने श्रीमुख से भक्ति के ये साधन बतलाए हैं—
 प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती । निज निज धर्म निरत श्रुति नीती ॥
 इहि कर फल पुनि विषय विरागा । तब मम चरन उपज अनुरागा ॥
 स्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं । मम लीला रति अति मन माहीं ॥
 संत चरन पंकज अति प्रेमा । मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा ॥
 गुरु पितु मातु बंधु पति देवा । सब मो कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥
 मम गुन गावत पुलक सरीरा । गद्गद गिरा नयन बह नीरा ॥
 काम आदि मद दंभ न जाके । तात निरंतर वश मैं ताके ॥

वचन कर्म मन मोरि गति, भजन करै निष्काम ।

तिनके हृदय कमल महँ, करौं सदा विस्त्राम ॥

उक्त चौपाइयों में भक्ति योग के मूल मंत्र भरे हुए हैं । उक्त साधनों को हम क्रमबद्ध कर इस प्रकार लिख सकते हैं—

१. ब्राह्मण या गुरुभक्ति, २. वर्णाश्रम-धर्म का पालन, ३. विषय-विराग तथा रामचरण-अनुराग ४. नवधा भक्ति (संत-चरण-प्रीति, रामगुण-गान, लीला में प्रीति, रामभजन इत्यादि) ५. पट्-रिपुनिग्रह ६. प्रेम की अनन्यता तथा सब प्रकार के प्रेमों का राम में एकीकरण ७. निष्काम दृढ़ सेवा ।

विप्रभक्ति

इन सब का हम यथाक्रम विवेचन करेंगे। सबसे प्रथम स्थान ब्राह्मणभक्ति को दिया गया है। ब्राह्मणों पर गुसाईं जी की बड़ी प्रगाढ़ भक्ति थी, इसी कारण ब्राह्मणों की प्रसन्नता ही उन्होंने भक्ति का सबसे प्रधान साधन माना है। विप्र ही देवों की भक्ति-प्राप्ति के प्रथम सोपान हैं। उनकी प्रसन्नता से सारे देव वशवर्ती हो जाते हैं तथा उनकी नाराजी से सब नाराज हो जाते हैं। समस्त मानस द्विजभक्ति से भरा हुआ है।

...जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत विरंचि सुर बस ताके सब देव ॥

“ते नर प्रान समान मोहि, जिनके द्विज-पद-प्रेम।” इत्यादि

विद्वान् ऋषितुल्य ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों की सेवा करने से अवश्य भक्ति में सहायता मिल सकती है किंतु अनेक स्थानों पर मूर्ख लंपट ब्राह्मणों पर भी उसी प्रकार की भक्ति रखने का उपदेश दिया गया है। यह मत आज कल के जमाने में हृदय पर असर नहीं करता।

“शापत ताड़ित परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता”

निम्नलिखित तत्त्व पर तो बिल्कुल श्रद्धा नहीं हो सकती—

पूजिय विप्र जो वेद-विहीना, नहिन शूद्र गुन-ज्ञान-प्रवीना ॥

वर्णाश्रम-धर्म

गीता के “स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः” के ही अनुसार गुसाईं जी के “दिन दिन धर्म निरत” से अपने अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार धर्म पालन करने का मतलब है। वेदों में नियत की गई वर्णव्यवस्था तथा आश्रमव्यवस्था के अनुसार अपने धर्म का पालन करते हुए भक्ति की साधना करै।

गुसाईं जी ने चारों वर्ण और आश्रमों के धर्म इस प्रकार कहे हैं—

सोचिय विप्र जो वेद-विहीना, तजि निज धर्म विषय लव-लीना ॥
 सोचिय नृपति नीति नहिं जाना । जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥
 सोचिय वैश्य कृपन धनवानू । जो न अतिथि सिव भक्त सुजानू ॥
 सोचिय सूद्र विप्र-अपमानी । मुखर मानप्रिय ज्ञान गुमानी ॥

चार आश्रमों का धर्म इस प्रकार है—

सोचिय बटु निज व्रत परिहरई, जो नहिं गुरु आयसु अनुसरई ॥

सोचिय गृही मोहवस, करै कर्म पिय त्याग ।

सोचिय यती प्रपंचरत, विगत विवेक विराग ॥

वैखानस सोइ सोचन योगू । तप विहाय जेहि भावै भोगू ॥

सब धर्मों और आश्रमों के समन्वय से ही ऐसा समाज स्थिर रह सकता है ।

विषय-विराग

इस प्रकार अपने वर्ण-आश्रम के धर्म पालते हुए धीरे धीरे मन को विषय से विरक्त कर राम-चरणों में अनुराग करै । ये दोनों बातें एक दूसरे पर आश्रित हैं । जब विषयों से विराग होगा तभी रामचरणों में अनुराग होगा और जब दृढ़ अनुराग होगा तभी विषयों से पूरा विराग हो सकता है । विषय की तुच्छता तुलसीदास ने जगह जगह पर बतलाई है । विषय-वासना-युक्त मलिन हृदय राम के निवास के योग्य नहीं है क्योंकि—

हरि निमेल मल प्रदित हृदय असमंजस मोहि मनावत ।

जेहि सर काक कंक बक शूकर क्यों मराल तई आवत ॥

जब तक हममें लुद्र विषयों की वासना बनी है तब तक अनंत सुख की प्राप्ति नहीं होती और जब वह अक्षय्य सुख प्राप्त हो जाता है तब फिर मनुष्य इस लुद्र सुख के पीछे नहीं दौड़ता, चिंतामणि पाकर फिर काँच बटोरने की इच्छा नहीं रह जाती—

जाके भवन बिमल चिंतामनि, सो कत काच बटोरे ।

(विनय)

वासनाग्नि को बुझाने का यह उपाय नहीं है कि उसमें विषय की आहुतियाँ डाली जावें । उसमें तो वह और भी प्रज्वलित होगी । उस अग्नि को बुझाने का उपाय भक्ति-सुख-प्राप्ति तथा रामानुराग ही है । इसी भक्ति के निर्मल जल से वह अग्नि बिल्कुल बुझ जायगी ।

हम चाहते तो सुख हैं किंतु उपाय इसके बिल्कुल विरुद्ध करते हैं । हरि-सम्मुख होने में सुख है पर विषय-सम्मुख और हरि-विमुख होकर हम सुख का यत्न करते हैं, इसी लिये वह निष्फल होता है ।

सुख साधन हरि विमुख वृथा,

जैसे श्रम फल घृतहित मथे पाथ ॥

ऐसे सुख के यत्न में, विषय-तृषा को बुझाने के प्रयत्न में तृषा बुझनी ही नहीं, केवल तालाब खोदते खोदते ही सारा जन्म चला जाता है ।

“तुलसीदास कब तृषा जाय सराखनतहि जन्म सिरानो ।”

जब तक यह विषय की आशा बनी है तब तक कभी सुख मिलने का नहीं ।

जब लग नहिं निज हृदि प्रकाश अरु विषय आस मनमाहीं ।

तुलसीदास तब लागि, जग योनिन भ्रमव कतहुँ सुख नाहीं ॥

भक्ति के प्रकार

रामचरण में अनुराग तथा विषयों से विराग उत्पन्न करने के लिये भक्ति के नव प्रकार के साधन हैं, जो आगे कहे जाते हैं ।

नवधा भक्ति

भक्ति के नव साधन बतलाए गए हैं जिन्हें नवधा भक्ति भी कहते हैं। भागवत के अनुसार भक्ति के ये नव प्रकार इस तरह हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

अर्थात् १—कथा-श्रवण, २—गुणगान करना या कीर्तन, ३—नामस्मरण, ४—पूजन करना, ५—अर्चना, ६—वंदना, ७—दासभाव, ८—सख्यभाव, ९—आत्मनिवेदन ।

किन्तु तुलसीदास-वर्णित नवधा भक्ति इससे कुछ भिन्न है। वह अध्यात्मरामायण के अनुसार इस प्रकार है—

१—प्रथम भगति संतन कर संगी ।

२—दूजी रति मम कथा-प्रसंगी ॥

३—गुरु पद पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान ।

४—चौथि भगति मम गुनगन करै कपट तांज गान ।

५—पंचम जाप मम हृद् विश्वासा ।

पंचम भक्ति सो वेद प्रकासा ॥

६—छठ दम शील विरति बहु कर्मा ।

निरत निरंतर सज्जन धर्मा ॥

७—सप्तम मोड़िमय सब जग देखै ।

मो ते संत अधिक कर लेखै ॥

८—अष्टम यथालाभ संतोषा ।

सपनेहु नहि देखै परदोषा ॥

९—नवम सरल सब सन छल-हीना ।

मम भरोष जिय हर्ष न दीना ॥

हम मानस ही के आधार पर नवधा भक्ति का विवेचन करेंगे ।

प्रथम भक्ति सत्संग

सत्संग प्रथम भक्ति है । गुसाईंजी ने सत्संग को भक्ति तथा ज्ञान-प्राप्ति का सबसे पहिला और सर्वोत्तम साधन माना है । उन्होंने मुक्त कंठ से सत्संग की महिमा तथा कुसंग की निंदा की है । बिना सत्संग के उन्होंने भक्ति, विवेक आदि को संभव ही नहीं माना है । “बिन सत्संग विवेक न होई ।”

सत्संग की जो महिमा गुसाईंजी ने गाई है वह उन्हीं के शब्दों में सुनना अच्छा होगा । सांसारिक, पारलौकिक सभी प्रकार की उन्नति का साधन सत्संग ही है ।

सो जानब सत्संग प्रभाऊ ।

लोकहु बेद न आन उपाऊ ॥

सत्संग का सुख सब सुखों से श्रेष्ठ है—

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग ।

तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुखलव सत्संग ॥

सत्संग ही राम-मिलन का एक मात्र साधन है—

बिनु सत्संग न हरिकथा, तेहि बिनु मोह न भाग ॥

मोह गए बिनु रामपद, होय न दृढ़ अनुराग ॥

मिलहि न रघुपति बिनु अनुरागा । किए कोटि जप यज्ञ विरागा ।

गुसाईंजी ने भक्ति तथा सत्संग ही का वर सबसे उत्तम समझा है ।

बार बार बार माँगऊ हर्ष देहु श्रीरंग ।

पद-सरोज अनपायनी भक्ति सदा सत्संग ॥

किंतु सत्संग के लिये भी भगवान् की कृपा की आवश्यकत है । क्योंकि बड़े सौभाग्य से कहीं संत लोग मिलते हैं ।

बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता ।

सत्संगति संसृति कर अंता ॥

इस प्रकार रामकृपा और सत्संग का अन्योन्य कारण-कार्य का संबन्ध है ।

जब हमारे मन में संतमिलन तथा भक्तिप्राप्ति की उत्कट इच्छा होती है तब भगवान् कृपा करके संतों के दर्शन करा देते हैं जिनके उपदेश से हमें राम-रहस्य की प्राप्ति होती है । भगवान् ने इसी कारण संतों को अपना रूप कहा तथा अपने से भी अधिक आदर किया है । संत किसको कहना चाहिए, यह गुसाईंजी ने अच्छी तरह बतला दिया है ।

मति कीरति गति भूति मुलाई ।

जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥

सो जानव सत्संग प्रभाऊ । लोकहु वेद न आन उपाऊ ॥

सत्संग ही भक्ति के साधन जानने का प्रधान उपाय है, अतः वही सबसे प्रथम भक्ति है ।

राम-कथा में प्रेम होना दूसरी भक्ति है । कथा की महिमा के विषय में पहिले ही लिखा जा चुका है ।

द्वितीय भक्ति हरिकथा

युगभेद तथा अधिकारीभेद के अनुसार भी भक्ति के साधन बदलते रहते हैं । कलिकाल के लिये रामनाम तथा हरिकथा ही को गुसाईंजी ने सर्वसुलभ और सरल साधन बतलाया है । इसका पूरा रसास्वादन मानस ही से मिल सकता है ।

रामकथा मंदाकिनी, चित्रकूट चित चारु ।

तुलसी सुभग सनेह वन, सिय रघुवीर विहारु ॥

सुमरिय रामहिं गाइय रामहिं । संतत सुनिय राम गुन गामहिं ।

राम नाम नर केशरी, कनककशिपु कलि काल ।

जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालहि दलि सुर साल ॥

राम चरन रति जे चहहिं, अथवा पद निर्वान ।

भाव सहित सो यह कथा करै निरंतर गान ॥

गुरुभक्ति तीसरी भक्ति कही गई है। सत्संग ही गुरु-प्राप्ति का द्वार है। सत्संग करते करते मन-इच्छित गुरु की भी प्राप्ति हो जाती है जिनकी कृपा से रामभक्ति सुलभ हो जाती है। गुरु ही रामप्राप्ति के साधन हैं अतः उनका महत्त्व राम ने अपने से भी अधिक बताया है। 'मोते अधिक गुरुहि जिय जानी ।'

गुरु हमें केवल ज्ञान ही नहीं देता, अपना अनुभव देता है। वह केवल ईश्वर को शब्दों से वर्णन नहीं करता बल्कि अपने अनुभव के द्वारा शिष्य को उनका प्रत्यक्ष रूप दर्शा देता है। हमारी नाव ईश्वर तक पहुँचाने के लिये यही कर्णधार के समान है।

‘कर्णधार सद्गुरु दढ़ नावा ।’

गुरु-सेवन भगवत्-सेवन का प्रथम सोपान है तथा वही शिष्य के अपराध की क्षमा याचना का प्रधान साधन है। (काग-भुशुंड को गुरु ही ने शंकर से उसे क्षमा दिखाई थी।) गुसाई जी को भी अपने गुरु ही की कृपा से रामकथा की महिमा ज्ञात हुई थी।

गुण-गान

चौथी भक्ति राम-गुणगान करना है जिसका कथा से घनिष्ठ संबंध है। अतः इसका स्वतंत्र रूप से वर्णन करना अनावश्यक है। गुणगान का भी वही महत्त्व है जो कथा का। राम के गुणों का गायन तथा स्मरण से हम उन्हीं के अनुसार अपने को बनाने का प्रयत्न करते हैं। आराधक भी आराध्य के समान हो जाता है। यही भक्तिमार्ग का मूल तत्त्व है। राम-गुण गाते

गाते हम राममय होकर अपने चरित्रों को भी उन्हीं के चरित्रों के समान बनाना चाहते हैं। राम के कार्यों का अनुकरण न कर केवल उनका नाम रटने से भक्ति की पूर्णता नहीं होती। नाम में वह माहात्म्य है कि वह नाम हमें नामी (उस नाम से सूचित होनेवाले व्यक्ति) के समान बना देता है। नाम ही नामी का सच्चा द्योतक है। नाम से नामों का रूप तथा गुण हृदय में भर जाता है तथा उनकी भक्ति और उनके अनुसार अपना चरित्र बनाने को हम उत्साहित होते हैं। गुसाईजी ने इसी नाम-नामी तथा नाम-रूप के संबंध को सिद्ध करने के लिये नाम-गान तथा गुण-गान का उपदेश दिया है।

मंत्र-जाप

विश्वास के साथ मंत्र जाप करना पंचम भक्ति है। यह भी नाम के माहात्म्य पर ही निर्भर है जिसका महत्त्व पीछे बताया जा चुका है। 'राम' इस महामंत्र का जाप ही सबसे श्रेष्ठ कहा गया है। इसी मंत्र का जाप शिवजी तक करते तथा इसी से सब सिद्ध सिद्धि प्राप्त करते हैं।

महा मंत्र जेहि जपत महेशू । काशी मुक्ति हेतु उपदेशू ॥

“राम” ही यहाँ महामंत्र है जिसे गुसाईजी ने भगवान् के सब नामों तथा मंत्रों से श्रेष्ठ माना है तथा इसकी अमित महिमा वर्णन की है। मानस में द्वादश अक्षर मंत्र तथा शिव-मंत्र आदि का भी उल्लेख है पर राममंत्र ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है। ‘राम सकल नामन ते अधिका’। इस मंत्र की सर्व-श्रेष्ठता के कुछ कारण ये हैं—यह प्रणव का रूपांतर है। ओंकार में जो अ, उ, म्, अक्षर हैं वे राम के अंतर्गत र + अ + म ही हैं।

यहाँ तक तो एक प्रकार की भक्ति का वर्णन हुआ। छठवीं से लेकर नवीं तक ये चार प्रकार की भक्तियाँ आचरण से संबंध रखनेवाली हैं। सज्जनों को स्मरण रखना छठवीं भक्ति है। रामायण में अनेकों स्थलों पर सज्जन के लक्षण बतलाए गए हैं।

छठवीं से नवमी भक्ति

इस प्रकार छठवीं से लेकर नवमी भक्ति को अलग अलग न रखकर यदि एक ही शीर्षक के नीचे रक्खा जाता तो अच्छा था, क्योंकि उन सभी में सज्जनों के लक्षण ही कहे गए हैं। दूसरे के दोष न देखना; क्षमा, दया, संतोष आदि रखकर सब जग में रामरूप देखना, सरल रहना आदि सब संतों ही के लक्षण हैं जो छठवीं भक्ति के अंतर्गत आ जाते हैं। भागवत-वर्णित नवधा भक्ति में सगुण रूप ईश्वर-सेवा के भिन्न भिन्न प्रकार बताए गए हैं किंतु गुसाईंजी ने उनके अतिरिक्त संतों को भी भक्ति में शामिल कर भक्ति को सदाचार के आधार पर स्थापित किया है। गुसाईंजी ने भागवत-वर्णित कई प्रकार (जैसे अर्चन, वंदन और दास्य) उक्त नवधा भक्ति में शामिल नहीं किए किंतु ऊपरी क्रिया की अपेक्षा शील, सदाचार को प्रधानता दी है, जो अपनी शुद्धि से संबध रखता है।

भक्ति का सर्वोत्तम और क्रियात्मक रूप

वंदन आदि तो भक्ति के भावात्मक रूप हैं। भक्ति का क्रियात्मक रूप क्या है? इस क्रियात्मक भक्ति का रूप गुसाईंजी ने सप्तम भक्ति के वर्णन में बता दिया है कि सब जगत् को राममय समझना ही राम की भक्ति करना है। “सप्तम मोहि-मय सब जग देखे।”

जब राम सब जगमय हो गए तब फिर जग की सेवा

करना, संसार के हित के लिये कष्ट सहना ही राम की भक्ति करना है। संतों का प्रधान लक्षण यही है कि वे मन, कर्म, वचन से जगत-हित में तत्पर रहें और पर-हित के लिये कष्ट सहें, यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण तक अर्पण कर दें।

पर उपकार वचन मन काया । संत सहज सुभाव रघुराया ॥
परहित लागि तजहिं जे देहो । संतत संत प्रसंसहिं तेही ॥
संत सहहि दुख परहित लागी ।

दूसरों के लिये अपने प्राण न्योछावर कर देना, सब जीवों पर दया रखना, सब के साथ समता का वर्त्ताव करना ही रामभक्ति के क्रियात्मक (Practical) रूप हैं जिनके बिना शेष सब भक्तियाँ निरर्थक हैं, निरा दंभ है। राम का नाम जपते हुए उनके किसी जीव से द्वेष करना, किसी की हिंसा करना या ऊँच-नीच का भेद भाव रखना मानों उस नाम का निरादर करना है जो कि इन सब बातों के लिये आदर्श रूप है। केवल राम राम कहने से राम प्रसन्न नहीं होते; वे उस भक्ति का प्रत्यक्ष रूप देखना चाहते थे। वह भक्ति का प्रत्यक्ष रूप यही है कि दूसरों के कष्ट को अपना कष्ट समझना। गरीबों पर होनेवाले अत्याचारों को राम के विरुद्ध महान् अपराध समझना और उन अत्याचारों के विरोध में अपने तन की कुछ भी पर्वाह न करना। यदि भक्ति के इस सर्वप्रधान अंग पर दृष्टि न रही तो शेष भक्ति के अंग कुछ महत्त्व नहीं रखते। इसके बिना सब निरर्थक है और इस पर आचरण करने से अन्य सब अंगों की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

एक दोहे में भक्ति का सार रख दिया है—

तुलसी ममता राम-पद, समता सब संसार ।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार ॥

सब संसार पर सम बुद्धि रखना ही “राम पद की ममता है ।”

सदाचार और भक्ति

उन्होंने सदाचार ही को अन्य संतों के समान भक्ति और धर्म का मूल आधार बताया है । इसके बिना वह टिक ही नहीं सकता । सदाचार-हीन भक्तों को उन्होंने काफी फटकार बताई है । विनयपत्रिका में वे कहते हैं—

लाज न आवत दास कहावत ।

सो आचरन विचारि सोच तजि जो हरि तुमको भावत ॥

हरि निर्मल मल-प्रसित हृदय अममंजस मोहि जनावत ।

जेहि सर काक, कंक वक शूकर, तहँ मराल क्यों आवत ॥

×

×

×

“कौन जतन विनती करिए ।

निज आचरण विचारि हारे हिय मानि जान हरिए ।” आदि

यह हृदयशुद्धि भक्ति का साधन अवश्य है किंतु उसका फल दूसरा ही है—निष्काम सेवा । बिना परहित किए तुलसीदास का दृष्टि में कोई सच्चा भक्त हो ही नहीं सकता ।

जानत हू, मन कर्म बचन, परहित कीन्दे करिए ।

सो विपरीत देखि परसुख बिनु कारण ही जरिए ॥

इसी कारण संतों और भक्तों के लक्षणों में परोपकार को उन्होंने प्रमुख स्थान दिया है, यहाँ तक कि उसे संतों का सहज स्वभाव ही बताया है ।

पर उपकार बचन मन काया ।

संत सहज सुभाव मुनि गाया ॥

इतना ही नहीं, पर-हित में से ‘पर’-शब्द की भावना ही मिटाकर उसे आत्महित के अंतर्गत मान लिया है । उनकी इस भावना को भुलाकर लोग उनके “स्वान्तःसुखाय” पद का

अर्थ अपने स्वाथ में लेते हैं। उनके लिये तो समाज-सुख ही “स्वान्तःसुख” निहित था। उनका काव्य

“सुरसरि सम सब कर हित होई”

इस भावना से प्रेरित था। जगत् की मंगल कामना ही उनके काव्य रूप में प्रकट हुई थी।

यदि अंजन आँख का रंजन करने के बदले उसका भंजन या गंजन करने लगे तो कौन उसे आँजेगा ?

नाते सवै नाथ के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।

अंजन कहा आँख जेहि फूटै वह तौ कहाँ कहाँ लौं। (विनय)

इस ‘नात’ और “नाथ” में शब्दसाम्य ही नहीं, अर्थ-साम्य भी है अतः जितने नाते हैं सब नाथ ही के तो हैं।

दम के लिये जो नियम उपयोगी हैं उनकी चर्चा करना रह गया। बाह्य इंद्रिय-दमन के समान नियम भी बाहरी हैं अतः उनका महत्त्व एक सीमा तक ही है। वाल्मीकि जी ने जिन नियमों का पालन राम के हृदय-निवास के लिये आवश्यक बतलाया है वे भी तो आखिर नियम ही हैं। वे नवधा भक्ति के प्रकार हैं जिनका नित्य या नैमित्तिक रूप से पालन करना आवश्यक है। नवधा भक्ति में भी श्रवण और कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन और वंदन ये छः भक्तियाँ तो शारीरिक नियम-पालन ही से संबंध रखती हैं। (यद्यपि इनमें भी भाव प्रधान है) केवल हार्दिक भाव से संबंध रखने वाली तीन भक्तियाँ हैं—दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। इन भावों की उत्पत्ति के लिये भी श्रवण, कीर्तन आदि की आवश्यकता है, अतः उनका पालन भक्ति की उत्पत्ति तक आवश्यक और उसके बाद ऐच्छिक हो जाता है।

यज्ञ दान तप

इस नवधा भक्ति के अतिरिक्त भी गोसाईंजी ने कुछ नियमों का उल्लेख किया है जैसे—तीर्थाटन, तर्पण, होम, विप्र-भोजन, दान तथा गुरुसेवा आदि। गोसा ने भी इनको नित्य कम मानकर अत्याज्य बनलाया है। शंकराचार्य ने केवल हृदय-शुद्धि तक ही इनको आवश्यकता बतलाई है। तुलसीदासजी समन्वयवादी होने के कारण सदा मध्यम मार्ग का अवलंबन करते हैं। अतः उन्होंने कहीं तो इनको व्यर्थ समझ कर त्याग करने और कहीं इनके पालन का उपदेश किया है। यथार्थ में वे भक्ति की तुलना में इन सभी बाहरी बातों को तुच्छ समझते हैं। (१) किंतु उनको सदा यह भय लगा रहता है कि कहीं बिना भक्ति उत्पन्न हुए ही लोग इन नियमों को छोड़ बैठें तो फिर मर्यादा ही मिट जावेगी इसलिये उनकी इच्छा यह जान पड़ती है कि भाव से या कुभाव से, क्रोध से या आलस्य से (भाव कुभाव अनख आलस हैं) धार्मिक नियमों का पालन होते रहना ही अच्छा है।

उमा दान जप योग तप नाना व्रत मख नेम ।

राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम ॥

यदि पालन होता रहा तो उनका भाव समझने का भी अवसर उनको कभी न कभी मिलेगा। किंतु यदि ऊपरी पालन भी बंद हो गया तो भीतरी भाव कौन समझावेगा? अतः वे कह उठते हैं:—

“येन केन विधि दीजे दान करै कल्याण”

जिसमें दान की प्रवृत्ति, तप की महिमा और यज्ञ का महत्त्व समाज में स्थापित रहे। वे यह अवश्य चाहते थे कि उनका रूप आवश्यकता के अनुसार बदलता रहे। (जैसे—द्रव्य-

(१) यज्ञ, दान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।

यज्ञ के स्थान पर जप-यज्ञ)। इनमें ऊपरी क्रिया की अपेक्षा भावना का महत्त्व बढ़ता जावे तथा वे ईश्वरार्पण-बुद्धि या निष्काम भाव से किए जावें—व्यक्तिगत कामनाओं की पूर्ति स्वर्ग-नरक की इच्छा के बदले परहित की वृत्ति समाज में बढ़े।

साधन चाहे जो भी हों, उनका अंतिम साध्य तो “सहज सनेह” और “प्रभु-पदरति” ही है—

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु तुम सन सहज सनेह ।

×

+

+

जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन ॥

भक्ति का क्रम

नवधा भक्ति में हमें उन्नति की एक परंपरा—एक सोपान की परंपरा मिलती है। गोसाईंजी ने मानस में कई प्रकार से यह विकास का क्रम बतलाया है। उदाहरण के लिये—

१—सत्संग से हरिकथा, उससे मोह-नाश, फिर रामानुराग की उत्पत्ति । (१)

२—राम कृपा से सत्संग, उससे विवेक, फिर भक्ति; (२)

३—रामकृपा से प्रभुत्व का ज्ञान, उससे प्रतीति तथा उससे प्रीति की उत्पत्ति । (३)

(१) बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।

मोह गए बिनु रामरद, होइ न दृढ़ अनुराग ॥

(२) बिनु सत्संग विवेक न होई । रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ।

(३) रामकृपा बिनु सुन खगराई । जानि न जाइ राम प्रभुताई ॥

जाने बिनु न होइ परतीति । बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥

प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई ।

इन सबमें सत्संग से प्रारंभ होता है और इसी लिये उससे प्रथम भक्ति कहा गया है। इस क्रम में जो अंतर मिलता है उसका कारण अधिकारी-भेद ही जान पड़ता है। किसी किसी को सत्संग के बाद हरिकथा की जरूरत पड़ती है किंतु दूसरों को सत्संग से तुरंत विवेक उत्पन्न हो जाता है और फिर भक्ति उत्पन्न होती है। कभी सत्संग के लिये भी रामकृपा की आवश्यकता बतलाई है।

“जब द्रवहिं दीनदयालु राघव साधु संगति पाइए।”

कभी यह कहा है कि बिना प्रेम के रामकृपा नहीं होती—
“द्रवहिं न रघुपति बिनु अनुरागा।”

इसमें भी अधिकार-भेद का प्रश्न है, सबके लिये एक सा नियम लागू नहीं हो सकता। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिये पूरा स्थान है, सभी मार्गों की स्वीकृति है, सब का समन्वय है।



साधन-समन्वय

आंतरिक साधन

चित्तशुद्धि या विषय-विराग के लिये गोसाईंजी ने ऊपरी तथा बाहरी बातों को अधिक महत्त्व नहीं दिया बल्कि अनेक जगह उनकी निंदा की है। और वह इसलिये कि लोग इन साधनों को ही साध्य समझ बैठते हैं। उनसे भक्ति-प्राप्ति की ओर न बढ़कर उन्हीं के दिखावे में लीन हो जाते हैं। वस्तु का तत्त्व न ग्रहण कर उसके ऊपरी आकार ही में रम रहते हैं। जहाँ तक ऊपरी बातें भक्ति की साधक हैं वहाँ तक वे बांछनीय हैं और जब वे भक्ति के अंतरतर प्रदेश में प्रवेश न कर ऊपर ही ऊपर मड़राती रहें तो उनका साथ अवांछनीय है।

बाह्य साधनों की निंदा करते हुए विनयपत्रिका में कहा है—

माधव मोह-फाँस क्यों छूटै ।

बाहर कोटि उगाय करिय अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै ॥

+

+

+

नेम और प्रेम

तरु कोटर महुँ बस बिहंग तरु काटै मरै न जैसे ।
साधन करिय विचार-हीन मन शुद्ध होय न तैसे ॥

अंतर मलिन विषय मन असि तनु पावन करिय पखारै ।

मरै न चरग अनेक यत्न बलमीकि बिबिधि विधि मारै ॥

सारे ऊपरी साधन “नेम” हैं किंतु राम प्रसन्न होते हैं “प्रेम” से । बिना प्रेम के नेम किस काम का ?

ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद् मग नहिं थोरे ।

राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधिहितोरे ॥

इसी लिये रामायण में प्रेम को जप तप आदि सब ऊपरी साधनों से ऊँचा स्थान दिया गया है—

“उमा दान जप योग तप नाना व्रत मख नेम ।

रामकृपा तस करहिं नहिं, जस निस्केवल प्रेम ॥

आवश्यकता है मन की शुद्धि की न कि बाहरी आडंबर की । बाहरी दिखावे से मन की शुद्धि के बदले उसमें दंभ कपट आदि अनिष्ट भावनाएँ प्रवेश करती हैं । यह बाह्य साधन यदि आंतरिक भक्ति के बाह्य चिह्न मात्र हैं अथवा उनसे अंतः-शुद्धि में सहायता मिलती है तो वे आवश्यक हैं किंतु यदि वे केवल दिखावे के लिये हैं तो नितांत निरर्थक हैं ।

विवेक और कृपा

मनःशुद्धि से ही मुक्ति अथवा भक्ति प्राप्त होती है । इसके लिये बाहरी साधनों की जरूरत नहीं है । इसके लिये दो प्रधान साधन हैं—एक विवेक और दूसरी हरिकृपा । ज्ञानमार्ग वाले विवेक को ही मुख्य मानते हैं किंतु भक्त लोग रामकृपा ही को प्रधानता देते हुए विवेक को उसके अंतर्गत समझते हैं । विवेक की आवश्यकता दोनों मानते हैं । किंतु भक्तों में केवल यह विशेषता है कि वे उसे रामकृपा का फल मानते हैं ।

“तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु, बिसल बिबेक न होई ।

बिनु बिबेक संसार धोर निधि, पार न पावै कोई ॥”

हमारा उद्देश्य है हृदय को शुद्ध करना, उसे राम के आसन के योग्य बनाना अथवा जो राम उसमें बैठे हैं उनके रूप का स्पष्ट दर्शन करना ।

हृदय को दर्पण की उपमा दी गई है । वह दर्पण कामादिक विकारों से मलिन हो रहा है; उसमें राग, द्वेष का मल जमा हो रहा है जिसके कारण उस अपवित्र स्थान में राम आना पसंद नहीं करते ।

अथवा मलिनता के कारण हृदय-दर्पण धुँधला हो रहा है, उसमें राम रूप के दर्शन नहीं होते—

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना । रामरूप देखहि किमि दीना ॥
देखहि किमि हरिरूप अभागी । हृदय जबनिका बहु बिधि लागी ॥

इस दर्पण को स्वच्छ करने के लिये भी गुरु-पदरज की आवश्यकता बतलाई है—

श्री गुरुचरन सरोज रत्न, निज मन-मुकुर सुधारि ।

इसी से “विवेक विलोचन” को भी निर्मल करने का विधान किया है—

जेहि करि बिमल विवेक विलोचन ।

बरनउँ रामचरित भव-मोचन ॥

इसी कार्य के लिये रामचरण-चिंतन भी समर्थ है—

होहि विवेक विलोचन निर्मल मुकर सुसीतल तेरे ॥

मलिन मुकुर को साफ करने के लिये भक्ति के जल की आवश्यकता है—

रघुपति भक्ति बारि छालित चित, बिन प्रयास ही सूझै ।

तुलसिदास प्रभुचित विलास घन बूमत बूमत बूमै ॥

यदि हृदय को नयन समझा जाय तो उनमें दृष्टि लाने के लिये विवेकरूपी अंजन आवश्यक है । इसी प्रकार मोहबंधकार को दूर करने के लिये प्रकाश की आवश्यकता है । इसी प्रकाश

के लिये “ज्ञान-दीपक” अथवा “भक्ति-वितामणि” आवश्यक हैं, जिनका वर्णन मार्ग-समन्वय में हो चुका है। चाहे जिस रीति से कहिए, मनःशुद्धि के लिये दो बातों को जरूरत है—(१) विषय की वासना छूटना तथा उसकी जगह (२) रामभक्ति की स्थापना। संक्षेप में, काम को निकाल कर राम की स्थापना करना, क्योंकि ये दोनों विरोधी हैं।

काम और राम

“जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।

तुलसी कबहूँ होत है, रवि रजनी इक ठाम ॥”

इन दोनों में से पहिले क्या होना आवश्यक है? जब तक राम नहीं आए तब तक काम नहीं निकल सका और जब तक काम नहीं निकला, राम नहीं आ सके। इसी प्रकार जब तक रामकृपा नहीं है तब तक भक्ति नहीं हो सकती और जब तक हृदय में भक्ति नहीं है, राम की कृपा नहीं हो सकती। इन दोनों का अन्योन्य संबंध है।

अतः ये दोनों कार्य साथ ही साथ संपादन करना होंगे। हमें कामना का नाश करने के साथ ही साथ रामकृपा की इच्छा रखकर भक्ति की प्राप्ति की प्रार्थना करनी होगी जिससे हृदय में विवेक का प्रकाश हो और हृदय शुद्ध हो जाय।

इसके अनेक साधन हैं। रामभक्ति-प्राप्ति ही साध्य है और भक्ति के नव प्रकार उसके साधन हैं। यही नवधा भक्ति है जिसका विवेचन आगे किया जाता है।

अनन्यता

अनन्यता का यही अर्थ है कि सारे प्रेम एक ही ओर हों। दूसरी ओर दृष्टि तक न डाली जाय। इसी लिये गुसाईजी ने सारे

संसारि प्रेमों को रामचरणों में ही आश्रित कर दिया है। उनकी सम्मति में सारे प्रेमों का आधार एक रामप्रेम ही है और उसी से सारे सांसारिक प्रेम उद्भव होते हैं। अतः उन सब प्रेमों को राम ही से करना चाहिए।

सब की ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बांधु बरि डोरी ॥

“राम हैं, मातु पिता सुत भ्रात और संगी सखा गुरु स्वामि सनेही।
राम की सौह भरोसो है राम को रामहिं सौं रुचि राचो न केही।
जीवत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहिं की गति जेही।
सोई जिये जग में तुलसी न तु डोलत और मुए धरि देही ॥”

(कविता०)

संसारि नातों को भी उन्होंने वहीं तक माना है जहाँ तक इस प्रेम की अनन्यता में बाधक न हो, अन्यथा उन्हें त्याग देने तक का उपदेश दिया है। अनन्यभक्ति वही जो कि

गुरु पितु मातु बंधु पति देव।

सब मो कहँ जाने हृद सेवा ॥

अनन्यता को स्थिर रखने के लिये गुसाईंजी ने वरदान माँगा है कि—

स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिनके सब तुम तात।

तिनके मन मंदिर बसहु, सोय सहित दोउ भ्रात ॥

जाति पाँति धन धर्म बड़ाई।

प्रिय परिवार सदन समुदाई ॥

सब तजि तुम्हें रहै लव लाई।

ताके हृदय बसहु रघुराई ॥

अनन्य भक्ति

भक्ति की अनन्यता पर गोसाईंजी ने सदा जोर दिया है।

भगवान् को और कुछ नहीं चाहिए, केवल अनन्य भाव चाहिए—

एक बानि करुना-निधान की ।

सो प्रिय जाके गति न आन की ॥

नीचे लिखे पद्य से कितनी अनन्य भक्ति प्रकट होती है—

“सिय राम स्वरूप अगाध अनूप विलोचन मीनन को जलु है ।
 स्तुति रामकथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहि को अलु है ॥
 मति रामहि सौं गति रामहि सौं रति राम सौं रामहि को बलु है ।
 सब की न कहै तुलसी के मते इतनौ जनु जीवन को फलु है ॥

(कवितावली)

अनन्य प्रेम का चित्र गुसाईंजी ने चातक आदि प्रेम के द्वारा दर्शाया है ।

“गरज तरज पाषाण बरसि पबि श्रीत परखि जिय जाने ।
 अधिक अधिक अनुराग उमंग भरु पर परमिति पहिचाने ॥”

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास ।

एक राम घन श्याम हित, सेवक तुलसीदास ॥

×

×

×

उपल बरसि गरजत तरजि, गरज कुलिश कठोर ।

चितव कि चातक जलद तजि, कबहुँ आन की ओर ॥

इसी के आदर्श पर गुसाईंजी अनन्यभक्ति का उपदेश देते हैं ।
 एक अंग पग अगम गवन करु बिलंबु न छिन छिन छाँ ।
 तुलसी हित अपने अपनी दिशि निरुपधि नेम निवाहै ॥

(विनयपत्रिका)

निष्कामता

अनन्यता के साथ निष्काम भक्ति भी उतनी ही आवश्यक है । तुलसीदास के भक्तियोग में निष्काम तत्त्व ही सब से प्रधान

तत्त्व है। भक्त इतने निष्काम होते हैं कि उन्हें सांसारिक सुख तथा स्वर्ग—स्वर्ग की गिनती ही नहीं वे मुक्ति तक—की कामना नहीं करना चाहते। जब जब भगवान् ने प्रसन्न होकर अपने भक्तों से वरदान माँगने को कहा है तब तब उन्होंने केवल विमल भक्ति का ही वरदान माँगा है।

भक्तों का लक्षण यही है—

जाहि न चाक्षिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह ।

तिनके मन मंदिर बसहु, सो राउर निजगेह ॥

भक्ति के सामने वे स्वर्ग-अपवर्ग को भी तुच्छ समझते हैं तथा जन्म-मरण से मुक्ति तक नहीं चाहते। नीचे दिए हुए पद से भक्ति की अनन्यता, एकाग्रता और निष्कामता सब प्रकट होती है—

यह विनती रघुवीर गुसाईं ।

और आस बिस्वास भरोसो हरहु जीव जड़ताई ।

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बढ़ाई ।

हेतु रहित अनुगग राम-पद बँदै अनुदिन अधिकाई ॥

कुटिल कर्म लै जाय मोहि जहँ जहँ आपनि बरिआई ।

तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँडिए कमठ अंड की नाई ॥

इहि जग में जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई ।

ते सब तुलसीदास प्रभु ही सों होहि सिमिटि इक ठाँई ॥

(विनयपत्रिका)

×

×

×

जानकी-जीवन की बलि जैहों ।

चित्त रुहै राम-सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहों ॥

उपजी उर प्रतीत सपनेहुँ सुख प्रभु-पद-विमुख न पैहों ।

मन समेत या तन के वासिन्ह यहै सिखापन दैहों ॥

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं ।
 रोकि हौं नयन बिलोकत औरहिं शीश ईश ही नैहौं ।
 नातो नेह नाथ सौं करि सब ना तो नेह निबैहौं ।
 यह घर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहै हौं ॥

(वि० प०)

भक्ति का आदि अंत—प्रेम और सेवा

तुलसीदास की भक्ति प्रेम से आरंभ होती है और उसकी परम परिणति सेवा के रूप में होती है। तुलसीदास को लोग सगुण साकार के उपासक कहते हैं किंतु उनका सगुण साकार निर्गुण निराकार में परिणत हो जाता है। आरंभ में भी वह व्यापक विश्वरूप ही था और प्रेम ही के कारण सगुण रामरूप में साकार हुआ था।

व्यक्तित्व का महत्त्व

आचार्य विनोबा ने एक जगह कहा है कि “सेवा व्यक्ति की और भक्ति समाज की।” हम सारे विश्व की भक्ति कर सकते हैं; किंतु यदि प्रत्यक्ष सेवा करना चाहें तो उस विश्व के किसी व्यक्ति-विशेष ही की करनी पड़ेगी। हाँ, व्यक्ति की सेवा करते हुए भी हमें यही समझना चाहिए कि हम उस ही सेवा के द्वारा सारे विश्व की सेवा कर रहे हैं। यह तभी हो सकता है, जब हम व्यक्ति के असली रूप अर्थात् समष्टि विश्वरूप का ध्यान रखें।

इसी लिये हमें किसी एक के व्यक्तित्व (Personality) की आवश्यकता होती है। “जब हम एक की पूर्णता का अनुभव अपने हृदय में कर पाते हैं तभी हमें विशुद्ध आनंद मिलता है। बहुत की भीड़ में हम कभी कभी एक को बिलकुल भूल जाते हैं।

किंतु उस जन-समुदाय की भीड़ में जो खास व्यक्ति हमारे हृदय के सबसे अधिक निकट होता है वही हमारे लिये सबसे अधिक सत्य जान पड़ता है।” इसी कारण गोसाईंजी ने राम के व्यक्तित्व को भक्ति और सेवा का आलंबन बनाकर उसी के चारों ओर अपने आदर्शों और अपनी भावनाओं को केंद्रित किया है।

एक व्यक्ति के गंभीर सत्य के प्राप्त हो जाने पर सारा विश्व भुवन उसी एक के साथ एकाकार हो जाता है। रवींद्र के शब्दों में “ऐक्य ही सत्य का रूप है और आनंद ही रस है।”

मानवत्व और ईश्वरत्व

सगुण राम के चरित्र-वर्णन के बीच बीच वे सदा उनके निर्गुण रूप की याद दिलाते रहते हैं। मानव-चरित्र-वर्णन में यह ईश्वरत्व की पुट कुछ लोगों को अखरती है। किंतु वे गोसाईंजी के मुख्य उद्देश्य को नहीं समझते जो कि सीमित के भीतर असीम और साकार के भीतर मनुष्य का ‘सहज स्वरूप’ दिखलाना ही था। अंत में चलकर वह ‘विश्वास प्रभु’ स्वयं अपना यथार्थ रूप भक्तों को बतलाकर ‘उसकी सेवा’ का उपदेश करता है।

अनुभव के सोपान तथा अंतिम लक्ष्य

पहली श्रेणी में जिस सगुण राम की मूर्ति को सब जगत् में देखता है वही आगे चलकर उस मूर्ति को अमूर्ति में मिला देता है और “सियाराममय सब जग” को जानने लगता है। उसके बाद तीसरी सर्वोच्च श्रेणी पर वह तब पहुँचता है जब यह सिया-राम का द्वैत भी अद्वैत राम में मिल जाता है और वह “रामरूप भगवंत” को “सचराचर रूपराशि भगवंत” में

मिला देता है। किंतु इस विश्वरूप का अनुभव तब तक सफल नहीं होता जब तक वह विश्व जन में रमे हुए राम की क्रियात्मक उपासना नहीं करता। वह उपासना राम को सदा सर्वगत जान लेने ही में समाप्त नहीं होती वरन् सर्वगत जानने की परशति सर्वहित करने ही में होती है। इसी को सामने रखकर भगवान् ने अंगद से कहा था—

“सदा सर्वगत सर्वहित जानि करहु अति प्रेमा”

और इसी ‘अति प्रेम’ को ‘भजन करहु इद नेम’ की व्याख्या बतलाया था।

तुलसी-मत

यहाँ तक तो तुलसीदास संतों की सर्वोच्च भावना ही को व्यक्त करते हैं किंतु इससे उनका निजी सिद्धांत पूरी तरह व्यक्त नहीं होता और वह है ‘सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।’ उस अद्वैत-वाद में जिसमें व्यक्ति अपने को भी उस “व्यापक विश्वरूप” का एक रूप समझ कर निष्क्रिय होकर बैठ रहता है, इस ‘सेवक सेव्य भाव’ का नितांत अभाव हो जाता है। वह तो तभी टिक सकता है, जब कि भक्त सचराचर को “रूपराशि भगवंत” का स्वरूप समझे और अपने को उसका एक तुच्छ सेवक। इस सर्वोच्च “राम-रहस्य” को, जो कि तुलसीदास का खास संदेश है, राम ने अपने परम भक्त हनुमान को बतलाया है—

“मैं सेवक सचराचर, रूपराशि भगवंत”

सौंदर्य द्वारा प्राप्ति

इस “रूपराशि भगवंत” की सेवा के लिये हमें उसके रूप के दर्शन की आवश्यकता होती है। उसके विश्वरूप के

दर्शन गोस्वामीजी ने हमें बालक राम के रूप में कराए हैं—उस अलौकिक सौंदर्य के द्वारा आकृष्ट कर उनकी प्राप्ति कराई है। मनु-शतरूपा ने शिव के मन में बसनेवाले विश्वरूप के दर्शन अपने नेत्रों से करने का ही वरदान माँगा है—“देखहिं सो स्वरूप भरि लोचन ।” इसके फलस्वरूप “विश्वास प्रभु” अपने साकार रूप में प्रकट हो जाते हैं—

“नील सरोरुह नीलमणि नील नीरधर श्याम ।

लाजहिं तन शोभा निरखि कोटि कोटि शत काम ॥”

इसके बाद सौंदर्यमय बालरूप कौशल्या के सामने फिर उसी विश्वरूप में परिणत हो जाता है—

देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड ।

रोम रोम प्रति राजहीं कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥

विश्वसौंदर्य बालसौंदर्य के रूप में प्रकट हो जाता है और अंत में फिर वही विश्वरूप के दर्शन मिलते हैं ।

पदपाताल सीस अब्रझाया । अपर लोक अँग अँग विश्रामा ।

अँगरेजी कवि शेली ने अपनी प्रसिद्ध कविता “Ode to the Goddess of Beauty” में बतलाया है कि उसने किस प्रकार सत्य के दर्शन सौंदर्यरूप में किए थे । वे कहते हैं, “एक अदृश्य शक्ति की पहली छाया विश्व में और हमारे बीच में व्याप्त है । उसी के आविर्भाव से हमारी पूर्णता होती है और उसी के अभाव में हमें अवसाद होता है । अनेक चेष्टा करने पर भी उस सत्य का अनुसंधान नहीं मिला—न घर में, न गिरि-गह्वर में । अंत में एक दिन वसंत पवन से वन-वन में जब प्राणों की गोपन वाणी जाग उठी उसी समय मन में इस सौंदर्य-लक्ष्मी का स्पर्श हुआ—एक क्षण में सारे संशय दूर हो गए ।”

शेरी ने जिस सौंदर्यमय के दर्शन प्राकृतिक सौंदर्य में पाए उसी के दर्शन गोसाँईजी ने मानव-सौंदर्य तथा बाल-सौंदर्य में किए। कवींद्र रवींद्र के शब्दों में—

“शास्त्रों में जिसको खोजने से नहीं पाया उसी को ज्योंही चित्त के मध्य में देखा, उसी समय जगत् के सारे द्वंद्व के बीच में एक का आविर्भाव प्रकाशित हो गया। उसी समय कवि ने देखा कि जगत् की मुक्ति इसी जगह है—इसी महान् सौंदर्यमय के भीतर है। उसी समय कवि का आत्मनिवेदन गान के रूप में उच्छ्वसित हो उठा।”

तुलसीदास में भी यही बात पूरी पूरी घटती है। राम के दर्शन ही से सब कामनाओं की पूर्ति हो जाती है।

“राम देखि पद कमल तुम्हारे।

पूरे सब मन-काम हमारे ॥”

शंकर के इष्टदेव भी यही सौंदर्यमय बालक हैं—

इष्ट देव मम। बालक रामा।

शोभा वपुष कोटि शत कामा ॥

किंतु जो इस बाललीला को ईश्वरलीला से भिन्न समझने का मोह करता है वह कागभुशुंडि के समान त्रास भोगता है।

असीम ईश्वर के बालरूप में ससीम होने का मोह तभी आता है जब उस असीम अनंत विश्वरूप के दर्शन हो जाते हैं। सती, कौशल्या तथा कागभुशुंडि के मोह-भंग से यह बात सिद्ध की गई है। जब तक कौशल्या ने “रोम रोम प्रति राजर्ही कोटि-कोटि ब्रह्मण्ड”, भुशुण्डि ने “राम उदर देखेउँ जग नाना” तथा सती ने “राम रूख दूसर नहीं देखा” के एकत्र और

सौंदर्यमय विश्वरूप के दर्शन नहीं कर लिए तब तक उनका मोह भंग नहीं हुआ ।

इस प्रकार संत-शिरोमणि महाकवि तुलसीदास की भक्ति तभी चरम सीमा पर पहुँचती है, जब वह नर में नारायण और जनार्दन में जन का दर्शन कर लेती है और उसी की निष्काम सेवा में सर्वस्व समर्पण कर देती है । अब वह अस्थायी मुक्ति और चिरस्थायी मुक्ति दोनों का निरादर कर अचल अटल "भक्ति" का वरण कर लेती है ।

वृत्ति-समन्वय

वृत्तियों की एकता और उन्नयन

गोसाईंजी ने सारी आंतरिक वृत्तियों, शारीरिक संबंधों तथा विषयों का भी उन्नयन (sublimation) रामभक्ति के द्वारा करा दिया है। प्रेम, दया, करुणा आदि उच्च वृत्तियाँ तो प्रभु के आश्रित होकर धन्य हो ही जाती हैं किंतु यदि काम, क्रोध आदि कुत्सित वृत्तियाँ भी प्रभु में केंद्रित हो जावें तो पवित्र हो जाती हैं। काम का उदाहरण गोपियों का प्रेम है (१) और क्रोध का रावणादि शत्रुओं का द्वेष, (२) लोभ के लिये विभीषण प्रसिद्ध हैं, यद्यपि उनकी वासना भी प्रेम-सरिता में बह गई। (३) मोक्ष में दशरथजी अप्रगण्य हैं जो अपने को मूढ़ कहलाने में भी मानहानि नहीं समझते, (४) मद में

- (१) काम-मोहित गोपिकन पर कृपा अति ही कीन ।
जगत पिता विरंचि जिनके चरन की रज ज्योत ॥ (विनय०)
- (२) वैर भाव मोहि सुमरित निसिचर ।
- (३) उर कछु प्रथम वासना रही ।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥
- (४) सुत विषयक तब पद रति होऊ ।
वरु जन मुद कहै किन कोऊ ॥

सुतीक्ष्ण का उदाहरण दिया जा सकता है जो कि प्रभु-सेवक का अभिमान सदा धारण करते रहते हैं । (१) मत्सर से कागमु-शुंढिजी ने अपनी भक्ति प्रारंभ की थी जो कि प्रत्येक मुनि से चढ़ा-ऊपरी करते फिरते थे ।

इसी प्रकार इंद्रियों के विषयों का भी गोसाईं जी ने भक्ति में समन्वय कराया है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ज्ञानेंद्रियों के विषय प्रसिद्ध हैं । इंद्रियों की प्रवृत्ति अपने अपने विषयों की ओर स्वाभाविक रीति से होती है जिसे देखकर गीता ने स्वीकार किया है—

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।

ज्ञान और योग मार्ग इंद्रियों के निग्रह के लिये शम, दम आदि उपायों को काम में लाते हैं । चित्तवृत्ति का निरोध ही योग की परिभाषा है । (२) जब एक एक इंद्रिय के कारण मीन, कुरंग, भृंग आदि विपत्ति में पड़ जाते हैं तब उस जीव की क्या दुर्दशा होगी जो कि पाँचों की खींचा-तानी में पड़कर व्याकुल हो रहा है ? (३) भागवत में इसका विस्तृत वर्णन है और गोसाईं जी ने भी अपने प्रभु से इंद्रियों के विरुद्ध बार-बार शिकायत की है । (४)

निग्रह या अनुग्रह

इंद्रियाँ ऊपर खींचते हुए भी नीचे ही जाती हैं । नेत्र नारि-रूप की ओर, कान पर-दोष, रसना पर-अपवाद तथा रसों की

(१) अस अभिमान जाय नहिं मोरे । मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥

(२) योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । (योगसूत्र)

(३) भागवत ।

(४) कबहूँ मन विश्राम न मान्यौ । (विनय०)

ओर, शरीर कोमल वस्तुओं के स्पर्श की ओर और नासिका सुगन्धित पदार्थों की ओर स्वभावतः खिंचती है । (१) अतः तुलसीदास जी ने निर्णय किया कि इनको रोकने का उपाय निग्रह नहीं किंतु अनुग्रह है—प्रभु-अनुग्रह की प्राप्ति है । उस अनुग्रह की प्राप्ति के लिये भी यही उपाय है कि उन इंद्रियों को विषयों से विमुख कर राम के सम्मुख कर दिया जावे । नेत्रों को रामरूप, कानों को रामवरित्र, रसना को प्रभु-प्रसाद, त्वचा को चरणस्पर्श तथा प्रभु अर्पित भूषणादि धारण, और नासिका को प्रसाद-गंध की ओर लगाया जावे । इसी कारण वाल्मीकिजी ने राम के निवासस्थान बतलाते समय बड़े सुंदर शब्दों में इस इंद्रिय-सन्निवेश का वर्णन किया है । (२)

उक्त वर्णन में केवल ज्ञानेंद्रियाँ ही नहीं कर्मेन्द्रियों के भी सन्निवेश का विधान किया गया है ।

कर्मेन्द्रियों की एकता

उनमें से वाक्-पाणि-पाद इन तीनों प्रमुख कर्मेन्द्रियों को भी भक्ति में संलग्न कर उनके एकत्रीकरण का प्रयत्न किया गया है । वाक् से हरि-गुण-गान, कर्णों से राम-पद-पूजा तथा चरणों से तीर्थगमन का विधान उसमें मिलता है । (३) किंतु अंतिम दो को बाह्य समझ कर उन्होंने स्थूलपूजा के स्थान पर मानस

(१) यों मन कबहुँ तुमहि न जायो १७१—तथा

सकुचत हो अति राम कृपानिधि० १४३—(विनय०)

(२) जिनके श्रवण समुद्र समाना । आदि (मानस)

(३) जोग जाग जप विराग तप सुतीर्थ अटत

बाँधिबे को भवगयंद रेनु की रज बटत ॥

पूजा तथा तीर्थराज के स्थान पर संत-समाजरूपी जंगम तीर्थ-राज को महत्त्व दिया है। (१) गत अध्याय में कहा जा चुका है कि वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में भी भगत्सेवा के रूप में इस इंद्रिय-वृत्ति के लिये रागभोग, पूजा, उत्सव, अर्चन-वंदन को इतना अधिक महत्त्व दिया गया कि वे भोग-विज्ञास के साधन बन गए, इसी लिये शायद गोसाईंजी ने बाह्य पूजा-वृद्धि के स्थान पर मानस पूजा का प्रचार किया।

बाह्य साधनों में आंतरिक भाव बाहरी आचारों से कहीं अलग न पड़ जावें, वचन हृदय से न निकल कर कहीं केवल कण्ठध्वनि मात्र न रह जावें, इसी लिये गोसाईंजी ने हर जगह मन, वचन और कर्म की एकता पर जोर दिया है। (२) एक ही चौगई में कितनी अच्छी तरह इनका समन्वय ध्वनित किया है—

सोस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी ।

प्रीति सहित करि विनय विसेखी ।

सिर नमनरूपी क्रिया के साथ हार्दिक प्रीति तथा वाचिक विनय का सुंदर योग आवश्यक है। इनसे रक्षित बाह्य उपचार दंभ मात्र है।

इंद्रिय-वृत्ति नहीं पुष्टि

प्रभु-संलग्न इंद्रियवृत्ति को हम कहीं इंद्रिय-वृत्ति न समझ लें, इस बात की गोसाईंजी ने काफी सावधानी रक्खी है।

(१) सुद गंगल मय संत-समाजू । जो जग जंगम तीर्थराजू ॥

(२) मन क्रम बचन जो राउर घेरा । कहु राम ताके उर डेरा ॥

कर्म बचन मानस विमल० ।

वाल्मीकि के निर्देश पर ध्यानपूर्वक विचार करने से पता लगेगा कि पार्थिव या स्थूल इंद्रिय-तृप्ति तथा प्रभु-सन्निविष्ट इंद्रिय-परिपुष्टि में आकाश-पाताल का अंतर है। इसी लिये पहली को केवल तुष्टि कहें तो दूसरी को वल्लभाचार्य के अनुरूप 'पुष्टि' कहना उपयुक्त होगा। इस पुष्टि में केवल क्षणिक स्वाद ही नहीं किंतु सूरदास के शब्दों में "अमित तोष" (१) और तुलसी के अनुसार स्वाद तथा तोष का समन्वय है। (२)

हाँ, तो हम वाल्मीकि के वर्णन की चर्चा कर रहे थे। दूसरे पार्थिव-रूपासक्ति में अतृप्ति ही हमारे हाथ रहती है। जलन शांत होने के बदले और अधिक बढ़ती है इसी लिये उसकी उपमा गोसाईंजी ने "दीपशिखा" से दी है और उसमें शलभ-रूप न होने की चेतावनी दी है—

दीपशिखा सम जुवति जन मन जनि होसि पतंग । या
अंजन केस सिखा जुवती तहँ लोचन सलभ पठावौ । (विनय)

इसके विपरीत उन्होंने राम-रूप को जलधर की उपमा दी है। उसके एक बिंदु मात्र में संसार का रुसिंधु समाया हुआ है इसलिये उन्होंने अन्य खारे रूप-सिंधुओं का निरादर कर इसी मधुर रूपबिंदु की कामना की है—

निदरति सिंधु सरित सर बारी । रूप बिंदु जल होहि सुखारी ॥

(मा०)

(१) अमित तोष उपजावै ।

(२) स्वाद तोष सम सुगति सुधा के ।

केंद्रीकरण से परितृप्ति

क्षणिक तृप्ति और स्थायी-तृप्ति इंद्रियवृत्ति का प्रधान लक्षण है। अग्नि में घृताहुति डालने के समान वह और भी अधिक बढ़ती है। (१) किंतु कहीं यह अतृप्ति ईश्वर की ओर लग जावे तो उसकी परितृप्ति ही हो जावे—उसका उन्नयन (Sublimation) हो जावे। उसमें भी “भरहिं निरंतर होहिं न पूरे” की भावना आनी चाहिए। जो इसे पाकर तृप्त हो जाते हैं उन्होंने उसका विशेष रस ही नहीं जाना—

रामचरित जे सुनत अघाहीं । रस बिसेष जाना तिन नाहीं ।

मनोबिकारों में जो उत्कटता होती है उसका एक अंश भी यदि प्रभु की ओर लग जावे तो प्रीति प्रगाढ़ हो सके। इसी लिये तुलसीदासजी ने प्रार्थना की है—

कामिहिं नारि पियारि जिमि जिमि लोभिहिं प्रिय दाम ।

तिमि तुम मोहि निरंतर प्रिय लागहु सिय राम ॥

“सुख की प्रीति प्रतीति मीत को—”

हमारी विषयासक्ति जो विविध संबंधों—माता, पिता, पुत्र, भ्राता, पति-पत्नी—में बँटी हुई है, वह यदि एक स्थान पर केंद्रित हो जावे तो कितनी अधिक उत्कटता उत्पन्न हो जावे, इसका अनुभव करना सहज है।

इसी कारण उन्होंने सब ममता-तागों को बट कर प्रभु-चरणों में दृढ़ डोरी बाँधने का आग्रह किया है—

(१) हविषा कृष्णवर्मैव भूय एवाभिवर्धते ।—महा०

कुम्भे न काम-अग्निनि तुलसी कहूँ विषय भोग बहु घी तें ।—(बिनब)

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिनके सब तुम तात ।

तिनके मन-मंदिर बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

जननी जनक बंधु सुत दारा । तन धन भवन सजन परिवारा ॥

(मानस)

शम में इन सबका समन्वय हो जाता है । किसी ने उन्हें स्वामी (हनुमान, भरत आदि), किसी ने सखा (शिवादि), किसी ने पुत्र (दशरथ कौशल्या), किसी ने पति (सीता) मानकर भक्ति की । भक्त उनको अपना सब कुछ मानकर इन सब भक्तियों का समन्वय करता है । इन्हीं संबंधों के कारण भक्ति के भेद हो जाते हैं—वात्सल्यभाव, सख्यभाव, दांपत्यभाव या स्वामिभाव ।

प्रीति और नीति समन्वय

गोस्वामीजी की भक्ति वैधी भक्ति है इस कारण उसमें प्रीति के साथ नीति का भी पूरा स्थान है ।

नीतिनिपुणता ही संतों की लीक है । (१)

प्रीति रामपद नीति पय चलिय राग रिस जीति ।

तुलसी संतन के मते रहै भगति कै रीति ॥

इसलिये इसमें शम, दम, यम, नियम सभी का समन्वय होना आवश्यक है । इंद्रिय-दमन ही दम है । ऊपर चर्चा हो चुकी है कि तुलसी ने इंद्रिय-दमन के बदले वृत्ति-उन्नयन (Sublimation) का मार्ग ही पसंद किया है ।

(१) नीति-निपुण जिनकी जग-जीका । गृह तुम्हार तिनके मन नीका ॥

×

×

×

काम कोह मद मान न मोहा । जोभ न जोभ न राग न द्रोहा ॥

जिनके कपट दंभ नहि माया । तिनके हृदय बसहु खुराया ॥

—(मानस)

आंतरिक वृत्तियों का शमन ही शम है । वे षड्रिपु-निग्रह के पक्षपाती हैं किंतु उन्होंने इन वृत्तियों को ईश्वरार्थमुख कर दिया है । इसकी चर्चा भी हो चुकी है ।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों नीतियों के लिये आवश्यक जानकर ही उन्होंने पर-धन को विष से भी भयंकर माना है । (१) लोग धर्मानुकूल मार्गों से जीविकोपार्जन करें, यही उनके रामराज्य की व्यवस्था है । चोरी, जुआखोरी, निशाचरी वृत्तियाँ हैं । (२) पर-संपत्ति को वे लोभ ही नहीं किंतु हृष को वस्तु समझते हैं । (३)

पर-धन के साथ पर-दारा भी समाज में अशांति का मूल है । उसी से राम-रावण-युद्ध हुआ अतः उनके लोभियों को गोसाईंजी ने मनुष्य रूप में राक्षस माना है । (४) इसी कारण “मातृ-वत्परदारपु” ही के प्राचीन सूत्र की उन्होंने आवृत्ति की है । (५) इतना ही नहीं किंतु स्वनारियों में भी एक नारिव्रत और पातिव्रत को उन्होंने सबसे ऊँचा आदर्श माना है । (६) रामराज्य-स्थापना के पूर्व इसका पालन उन्होंने अपने चरित-नायकों से कराया है । (७)

(१) धन पराय विष ते विष भारी ।

(२) बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे ताकहि पर-धन पर-दारा ॥

जिनके अस आचरन भवानी । ते ज नहु निसिचर सम प्रानी ॥

(३) जे हरषहि पर-संपत्ति देखी ।

(४) पर-निंदा पर-दार-रत पर-धन पर-अपवाद ।

ते नर पामर पापमय देह धरे मनुजाद ॥

(५) जननी सम जानहिं पर नारी । एक नारिव्रत सब नर मारी ॥

(६) ते मन बच क्रम पति-हितकारी ।

(७) तेहि सपनेहुँ पर-नारि न हेरी ।

भक्ति मणि को सब धनों से मूल्यवान् समझने तथा विरति को उसका अनिवार्य अंश मानने के कारण उन्होंने संग्रह या परिग्रह को कभी ऊँचा स्थान नहीं दिया । भारत में सदा से धन का नहीं, ज्ञान का आदर रहा है । यहाँ अकिंचन भक्तों और त्यागियों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है । तुलसीदासजी ने परम अकिंचन ही को हरि का सबसे अधिक प्रिय माना है । (१) धन से आर्थिक, जाति-पाँति से सामाजिक तथा धर्म से आध्यात्मिक भेदभावों की वृद्धि होती है । अतः उन्होंने इन सबको त्याग कर प्रभु से लव लगाने का आदेश दिया है । (२) प्रिय परिवार तथा सुखदाई सदन जब भक्ति के साधक होने के बदले बाधक हो उठे (३) तब उनके भी त्याग का आदेश उन्होंने रक्खा है—

जरौ सो संपति सदन सुख सुहृद मातु पितु भाइ ।
सन्मुख होत जो रामपद करै न सहज सहाइ ॥

— — —

(१) परम अकिंचन प्रिय हरि केरे ।

(२) जाति पाँति धन धरम बडाई । प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥

सब तजि तुमहि रहइ छव जाई । ताके हृदय बसहु रघुराई ॥

३. ये सब रामभक्ति के बाधक ।

उपास्य-गुण-समन्वय

पतित-पावन और कर्म-फल-दाता

गोसाँई' तुलसीदासजी ने दो बिरुद्ध मतों का उल्लेख किया है—(१) रामकृपा और (२) स्वकर्म । रामजी का सबसे प्रधान गुण जो भक्तों को उनके चरणों की ओर आकर्षित करता है वह है उनकी दया, क्षमा, जनप्रीति तथा शरणागत-वत्सलता । 'गोसाँई'जी ने रामजी को पद पद पर पतितपावन, कृपालु आदि विशेषणों से संबोधित किया है ।

“ऐसी कौन प्रभु की रीति ।

विरद हेतु पुनीत परिहरि पामरन पर प्रीति ॥ ”

“मैं हरि पतित-पावन सुने ।

मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानिक बनें ॥”

+

×

+

जाऊँ कहाँ तजि चरण तिहारे ।

काको नाम पतित-पावन जग केहि अति दीन पियारे ॥

जहाँ राम 'पतित-पावन' हैं वहाँ वे 'शुभ अरु अशुभ कर्म फलदाता' भी हैं । इन दोनों बातों का समन्वय कैसे हो ?

प्रश्न होता है—इन पतित-पावनादि विशेषणों का क्या

अर्थ ? यदि प्रभु पतित-पावन हैं तो फिर संसार में कोई पापी रहना ही न चाहिए। रामजी सब को पवित्र कर ही देते हैं। फिर क्या है, खूब पाप करो, राम पवित्र कर ही देंगे। पतितपावन शब्द का इस तरह से दुरुपयोग भी हो सकता है। अंत समय में पादरी द्वारा अपराधों की क्षमा प्रार्थना करा लेने पर कोई पापों की मुक्ति मान लेते हैं। किंतु इसका असली मतलब कुछ दूसरा ही है।

भक्तिमार्ग का यही प्रधान तत्त्व है। यही तत्त्व भक्तिमार्ग को ज्ञानमार्ग से अलग करता है तथा उसे लोगों के लिये अधिक सुलभ तथा सरल बना देता है।

भगवान् ने ज्ञानी और भक्त का अंतर बतलाते हुए कहा है—

“जनहिं मोर बल निज बल ताही” ।

अर्थात् भक्त को भगवान् का बल रहता है और ज्ञानी को स्वयं अपना ही बल रहता है। क्योंकि वह अपने में और भगवान् में कुछ अंतर नहीं समझता। जिसको अपना बल है उसके लिये भगवान् को उतनी चिंता नहीं करनी पड़ती किंतु जिनको उन्हीं का बल है उनकी सब तरह से खबरदारी उसे रखनी पड़ती है।

“सुन मुनि तोहिं कहौं सह रोसा । भ्रष्टहिं मोहिं तजि सकल भरोसा ॥
करौं सदा तिनकी रखबारी । जिमि बालकहिं राखु महतारी ॥

(मानस)

यही शरणागत-वत्सलता है। जो कोई सब भरोसा छोड़ शरण आवेगा उसकी रक्षा भगवान् को करनी पड़ेगी। भगवान् की शरण आते ही पापी पापी नहीं रह जाता, क्योंकि पापी को भगवान् के सम्मुख आने का साहस ही नहीं हो सकता।

जभी भक्त को शरण आने की बुद्धि और हिम्मत हुई तभी वह पावन हो गया। उसे आत्मग्लानि होती है—अपने पूर्व पापों पर पश्चात्ताप होता है और वह अपने अपराध साफ साफ स्वीकार कर लेता है। असल में भक्त अपने पश्चात्ताप, आत्मनिवेदन तथा आत्मग्लानि ही के कारण पावन हो जाता है। व्याध, गणिका, गज, अजामिल आदि सभी ने जब सच्चे शुद्ध भाव से भगवान् का स्मरण किया तभी उन्हें मुक्ति मिली। गीध के संबंध में स्वयं रामजी कहते हैं—तात करम निजतें गति पाई।

इसी पर दृष्टि रखकर सूदासजी ने कहा है—

“गणिका तरी आपनी करनी, नाम भयो प्रभु तेरो”।

इसी प्रकार एक अन्य कवि ने भी कहा है।—

“बिना भक्ति तारो तब तारियो तिहारो है।”

यदि हम अपनी करनी से तरे तो इसमें भगवान् का क्या ? यहाँ फिर शंका हो सकती है कि अगर अपनी ही करनी के कारण जीव तरता है तो फिर उसमें राम का क्या गुण रहा ? उन्हें श्रेय देने का क्या कारण ? फिर तो ज्ञानमार्ग और भक्ति-मार्ग में कुछ अंतर नहीं रह जाता। सचमुच ज्ञान और भक्ति में कुछ अंतर नहीं है। केवल भावनाओं में अंतर है। दोनों का आत्मविश्वास ही उन्हें पवित्र बनाता है। राम पतित-पावन सचमुच हैं, पर जब तक उनके इस नाम का यथार्थ भाव न समझ कर उस पर विश्वास न होगा तब तक कुछ फल न होगा। केवल विश्वास ही फलदायक है। यदि ऐसा न होता तो फिर सभी राम नाम लेनेवाले मुक्त हो गए होते—

राम राम सब कोइ कहै, ठग ठाकुर अरु चोर।

बिना प्रेम रीझे नहीं, तुलसी नवल किशोर॥

भक्त यह विश्वास करता है कि मैं सचमुच पतित हूँ और अपनी करनी से नहीं किंतु राम की कृपा से तरुँगा। यद्यपि वह अपनी करनी, अपनी भक्ति ही के कारण तरता है किंतु वह अपने आराध्य ही को उसका श्रेय देता है। यही कारण है कि तुलसी सरीखे परम भक्त पवित्रात्मा भी अपने को पतित, अधम, नीच आदि शब्दों से संबोधित करते हैं। अपनी नीचता तथा प्रभु की उच्चता, अपनी अकिंचनता और राम की सर्व-समर्थता, भक्त के मन का प्रधान आधार है। अपने को नीच समझ कर ही भक्त अपने को अत्यंत उच्च बनाता है। बिहारी के अनुसार—

“जेतो नीचो ह्वे चलै, तेतो ऊँचो होय।”

यहाँ फिर संदेह हो सकता है कि अपने को नीच समझने वाला आदमी किस तरह पुण्यात्मा हो सकता है। ज्ञानमार्ग में “शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि” कहे बिना पवित्र नहीं हो सकता किंतु भक्तिमार्ग में अपने को नीच तथा पापी समझने ही में मुक्ति है, क्योंकि पवित्र करनेवाला पतित-पावन जब हमारे साथ है तब पाप कैसे रह सकता है? यदि हम सचमुच पापी हैं तो प्रभु की पावनता हमें पावन बनाती है। दर्द को समझे बिना उसकी दवा नहीं हो सकती। इसी तरह अपने पाप को समझे बिना उसका प्रतीकार किस प्रकार हो सकता है? अपने को पापी तथा राम को पतित-बन्धु समझने ही से शांति प्राप्त हो जाती है।

फिर भी यहाँ संदेह हो सकता है। माना कि हम पापी हैं और राम पाप-निवारक हैं; किंतु जब राम के संयोग से हमारे पाप दूर हो चुके हैं तब भी हम अपने को पापी क्यों समझते रहें? हमें तो अपने को महा पुण्यात्मा समझना चाहिए।

भक्ति के इस ज्ञान-मार्ग में पैर रखनेवाले ऐसा ही करते हैं। उनकी भक्ति ज्ञान पर पैर रखने की सीढ़ी मात्र होती है। भक्ति द्वारा राम को कृपा प्राप्त कर जब वे पापरहित हो जाने हैं तब अपने को पवित्र समझ कर ज्ञानमार्ग में पैर रखते हैं। किंतु भक्त लोग राम की कृपा से पापरहित हो जाने पर भी अपनी भक्ति ज्यों की त्यों बनाए रखने के लिये अपने को पापी और राम को पाप-निवारक समझते रहते हैं। उनका अपने को पापी कहना केवल राम की महिमा प्रकट करने के लिये रह जाता है। असज में हृदय से वे पवित्र हो चुकते हैं। दूसरी बात यह भी है कि मनुष्य का स्वभाव सदा पाप की ओर दौड़ता है। हृदय से सच्ची भक्ति करते हुए भी उसका मन मायावश हो जाया करता है।—“जो ज्ञानिहु कर चित अपहरई। बरिआई बिमोह बश करई।” इसलिये सच्चा भक्त भी कभी कभी पाप कर बैठता है। किंतु उसमें और सदा के पापियों में यही अंतर होता है, कि पाप कर चुकने पर वह उस पर हृदय से पश्चात्ताप करता है और फिर राम-शरण में जाता है। पतित-पावन नाम पर विश्वास करके वह फिर भी तुरंत पाप से मुक्त हो जाता है। इसी तरह से मन दोनों दिशाओं में भूलता रहता है। मन की इस द्विविध गति को गुसाईंजी ने इस प्रकार कहा है—

“कबहुँ योगरत भोगनिरत शठ, हठ वियोग बश होई।”

(विनय०)

जब ऐसी ही हालत है तब फिर अपने को पुण्यात्मा कैसे समझा जाय ? यही कारण है कि गोसाईंजी ने जीब को सदा पापमय माना है और कभी कभी जो उसमें पुण्य की रेखा आ जाती है, उसे सत्संग तथा रामकृपा का प्रभाव माना है। इसलिये जितने पाप हैं उन सबको वे अपने ऊपर ले लेते

हैं और जितने सुकृत हैं उन सब का श्रेय अपने प्रभु को दे देते हैं। वे पाप का अंश अधिक और पुण्य का अत्यंत अल्प मानते हैं। इसी लिये उन्होंने कहा है।—

“क्योंकरि कटत सुहृद नख तैं भो पै बिपुल वृंद अघ बन के।”

(विनय०)

अतः अपना भरोसा छोड़ राम नाम ही पर अपना अटल विश्वास उन्होंने जमा रक्खा है। जीव के हृदय में पाप और पुण्य सदा घटते बढ़ते रहते हैं। अतः जरा से पुण्य के कारण अत्यंत पाप पर ध्यान न देकर अपने को पवित्र पुण्यात्मा समझ लेने से अहंकार की मात्रा बढ़ती ही है जो कि और भी गहरे पाप-कूप में गिराती है। इसी कारण परम भक्त गोस्वामी जी ने अपनी लुट्ता तथा उच्च राम की अपार करुणा की महिमा गाई है जिस करुणासागर में महान् से महान् पाप का पड़ाइ भी पल भर में लुप्त हो जाता है।

ये सब पढ़ने-लिखने की बातें नहीं हैं, हृदय में अनुभव करने की बातें हैं। हमारे लुट् जीवन में तुलसी का विनयपत्रिका ही विपत्तियों की एकमात्र आधार है।

जब हृदय अपार पाप के सागर में डूब जाता है तब विनय का पद तल्लीन होकर गाते ही पतितपावन के चरणों में पुकार पहुँचती है। एकदम उसकी करुणा-किरण के मधुर स्पर्श से सारे पापों के मोह का पहाड़ पिघल पड़ता है और सारा विकार आँखों से पानी होकर बह जाता है, सारा पाप पानी हो जाता है; जी खे एक भार सा उतर जाता है। छोटी सी आत्मा अपने को उस अनंत सागर में गोते खाती हुई बहते बहते एक अदृश्य हाथ का आधार पाती है और आँख खोलने पर अपने को किसी अज्ञात रत्नक की गोद में पाती है।

भक्त-वत्सलता और न्यायपरायणता

शाप के लिये दो प्रकार के गुणों का वर्णन हुआ है—

(१) वे भक्त वत्सल हैं तथा (२) न्याय परायण भी हैं। इन दोनों में कभी कभी संघर्ष होने की संभावना है। इसका मेल कैसे हो ? भगवान् की भक्ति-वत्सलता तथा भक्त वत्सलता के उदाहरण मानस में भरे पड़े हैं। असल में यहीं उसका मूल मंत्र है और इसी पर उसका सारा उपदेश आधारित है कि “भाववश्य भगवान्” और “प्रेम तें प्रगट होहि मैं जाना।” भक्ति-मार्ग का आधार यही भक्तवत्सलता है। भगवान् अपने भक्तों के छुट-निवारणार्थ ही अवतार धारण करते हैं।

किंतु इस भक्तवत्सलता को प्राप्त करने के लिये भक्त को अनन्य तथा पूर्ण रूप से शरणागत होना चाहिए। भगवान् का प्रण “शरणागत भय-हारी” है। उन्होंने बहुत जगह श्रीमुख से कहा है कि उनको वही प्रिय है जो अनन्य हो, जिसे दूसरे का स्वप्न में भरोसा न हो—

“एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न भान की ॥”

किंतु यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि राम पतित-पावन और दीनबंधु हैं तो क्या वे अपने भक्तों ही पर कृपा करते हैं ? पर जो भक्त नहीं हैं, उनकी क्या दशा होगी ? भगवान् शरणागत-वत्सल और भक्त-वत्सल हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि अभक्त पर उनकी कृपा रहती ही नहीं।

भक्त-वत्सलता और समता

भगवान् की कृपा तो सब पर एक बराबर रहती है। किंतु भक्तों की उन्हें विशेष चिंता करने पड़ती है। भगवान् का कथन है—

“अखिल विश्व यह मम उपजाया, सब पर मोरि बराबरि दया ।”

इस पर लोग फिर संदेह कर सकते हैं कि भगवान् जब सब के लिए एक समान हैं तब केवल भक्तों पर ही विशेष दृष्टि क्यों रखते हैं। यथार्थ में राम सब के लिए एक सम हैं। भक्तों को अपनी अनन्य भक्ति के कारण ऐसा भासित होने लगता है कि राम की हम पर विशेष कृपा है। असल में राम की कृपा सब पर है किंतु जब तक हम भक्त नहीं रहते तब तक अपने को अपने पाप के कारण उस कृपा की परिधि से बाहर समझते हैं। किन्तु व्योंहीं हममें भक्ति आ जाती है, हम अपने को रामकृपा की छात्रछाया के नीचे पाते हैं।

हम उनकी छाया का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगते हैं। पतित-पावन और दीन-हितकारी आदि विशेषण ही यह बात सिद्ध करने के लिए काफी हैं कि रामकृपा सब पर बराबर है बल्कि उनकी तो—“बिरद हेतु पुनीत परिहरि, पामरन पर प्रीति ही अधिक है”। उनका गरीबनिवाज यह विरद ही हमें उनकी कृपा के नीचे खींच लाता है और भक्त बना देता है।

रामकृपा और पुरुषार्थ

भक्तगण “सर्वधर्मान्परित्यज्य” सब धर्मों को छोड़ कर राम-शरण में ही अपने को अनन्य भाव से अर्पण कर देते हैं। अतः वे सभी बातों को रामकृपा का ही फल समझते हैं। हनुमानजी ने इतने बड़े बड़े कार्य किए किंतु अंत तक यही कहते रहे—

“नाथ न कछुक मोरि मनुखाई । प्रभु प्रताप जो कालहिं खाई ।”

उनके सब काम राममय हो जाते हैं। अतः वे अपना पुरुषाभन देख कर उसमें राम की कृपा का आभास देखते हैं। परम भक्तशिरोमणि गोसाँईजी ने सभी बातों को रामकृपा

का ही फल माना है। जीव को शुभ मति, रामभक्ति, मोक्ष तथा सुख-संपत्ति आदि सभी कुछ राम ही के कारण मिलता है। राम-कृपा ही से जीव उनकी ओर आकर्षित होता है और परम भक्ति पाकर जीव-मुक्त हो जाता है।

रामकृपा और भक्त-कर्तव्य

यहाँ शंका उठाई जाती है कि रामकृपा ही पर सब अवलंबित हैं तो फिर हमें इतने साधनों की क्या जरूरत है? जब रामकृपा होनी होगी हो जाएगी। जब अपने किए कुछ होता नहीं फिर क्यों व्यर्थ सिर मारें? इस तक में एक बड़ी भारी भूल यह है कि आप भक्ति-प्राप्ति आदि शुभ कर्मों को तो ईश-कृपा पर छोड़ते हैं किंतु फिर पाप क्यों स्वयं करना चाहते हैं? वह भी ईशकृपा पर छोड़िए। जब आप ऐसा विश्वास करते हैं कि “अब अपने किए कुछ नहीं होता” तो इस विश्वास पर डटे रहिए—भला-बुरा कुछ मत कीजिए। यदि आप ऐसा कर सकें तो अवश्य रामकृपा ही आपका उद्धार करेगी। इस दशा में आप में अनन्यता आ जावेगी जिसकी आवश्यकता है। दो नावों से चलते नहीं बनेगा; या तो आप ईश-कृपा ही पर विश्वास कीजिए अथवा अपने पुरुषार्थ पर। काम तो अच्छे करते जाइए पर उन्हें अपना न समझ कर ईश्वर कृत समझिए।

भक्तिमार्ग में “अपना पुरुषार्थ” समझना “अभिमान” के नाम से पुकारा जाता है। इससे अभिमान की मात्रा आ जाती है। इसलिये रामकृपा ही का आश्रय लेना सबसे अच्छा है। रामकृपा पर विश्वास करने का यह मतलब नहीं है कि अपना बर्तव्य छोड़ दिया जाय। बिना स्वयं मरे स्वर्ग नहीं मिलता।

किंतु उस कर्त्तव्य को भक्त गण पुरुषार्थ न कह कर नश्रता और भक्ति के कारण राम ही की प्रेरणा समझते हैं। यह रामकृपा पर विश्वास ही उन्हें सुकर्म में प्रेरित करता है। ज्ञान मार्ग में आत्मविश्वास ही प्रधान है, किंतु भक्ति मार्ग में सब जगह राम की कृपा का दृश्य दीखता है। यहाँ तक कि अपना अस्तित्व रामकृपा में भूल कर हम उसमें एकाकार हो जाते हैं।

ज्ञानी लोग आत्मविश्वास के द्वारा एकाकार होते हैं और भक्त लोग रामकृपा पर विश्वास करने से वही फल पाते हैं :—

“जनहिं मोर बल निज बल ताही ।”

भक्ति और कर्मफल

भक्तिमार्ग में कर्म को कौन सा स्थान दिया गया है ? पहले तो कर्म की प्रधानता मानी गई है :—

“करम प्रधान विस्व करि राखा ।

जो जस क इ सो तस फल चाखा” ॥

इस कर्म-नियम के अनुसार जो आदमी जैसा कर्म करेगा (चाहे भक्त हो या अभक्त) उसे वैसा ही फल मिलना चाहिए। जो पतित है, पापी है, उसे कर्मदंड मिलना ही चाहिए। किंतु फिर कहते हैं :—

“तदपि करहिं सम विषम विचारा ।

भगत अभगत हृदय अनुसारा ॥

इन दोनों सिद्धान्तों का ऐकमर्थ कैसे हो ?

यथार्थ में दोनों सिद्धांतों का मतभेद नहीं है। मीमांसक लोग कर्म को ही ईश्वर मानते हैं। किंतु तुलसीदास सरीखे वेदांती लोग उसे ईश्वर का एक नियम मात्र मानते हैं। न्यायाधीश चाहे तो अपराधी को क्षमा भी कर सकता है और दंड भी दे सकता है।

कर्म का नियम सब जगह लागू अवश्य है किंतु उसका प्रयोग जन की भावना को समझ कर किया जाता है ।

शंका होती है कि भक्त चाहे जो अपराध करता जावे उसे दंड न मिले और अभक्त बिना विचारे पीसे जावें ! यह तो अन्याय सा दीखता है ।

बात यह है कि भक्तों के प्रति भगवान् की विशेष कृपा होती है । वह कोई पक्षपात नहीं कहा जा सकता ।

असल में जो भक्त है वह हृदय से माप नहीं करता, वान् कुसंगति, काल, स्वभाव या कर्म की परवशता के कारण पाप कर बैठता है । अतः अपराध-निर्णय के समय परिस्थिति तथा हृदय के भाव पर बिना ध्यान दिए दंड-विधान कर देना न्याय नहीं करता होगी ।

तुलसीदास जी ने कहा है—

“जद्यपि सम नहिं राग रोसू ।

गनहिं न पाप पुन्र गुन-दोषू ।

तदपि करहिं सम विषम विचारा ।

भगत अभगत हृदय अनुसार ॥

ईश्वर को न भक्तों पर राग है और न अभक्तों पर रोष, तो भी भक्तों के प्रति वह सम और अभक्तों के प्रति विषम व्यवहार करता दीखता है ।

ईश्वर दोनों के हृदय की भावना देखता है । किंतु दूसरे लोग उन दोनों के बाह्य कर्म देखते हैं । भक्तों का बाहरी पाप दीखनेवाला कर्म भी सत् भावना से प्रेरित हो सकता है और अभक्त का बाहरी पुण्य कर्म भी कुभावना से प्रेरित रहता है । इसी लिये न्यायकर्ता ईश्वर क्षणिक भूल पर निर्दयतापूर्वक दंड प्रहार न कर सशानुभूति के साथ कर्त्ता की भावना को

ध्यान में रखकर या तो उसे क्षमा कर देता है या उसे थोड़ा दंड देकर छोड़ देता है—

“कीन्ह मोइ बस द्रोह, जद्यपि तेहि कर बध उचित ।

प्रभु छाँड़ेउ करि छोह, को कृपालु रघुवीर सम ॥

धरत न प्रभु चित चूक किए की । करत सुरति सौ बार हिये की ॥

किंतु इतना कोमल चित्त होने से अपराधियों की बन पड़ेगी । इसका उत्तर भी मानस में है । भगवान् का कथन है कि अपने अपराध को मेरे सामने स्वीकार कर लेना ही उस पाप का यथेष्ट दंड है । अपने पाप से जो परिताप मन हो मन होता है वही उस पाप का काफी प्रार्थश्चित्त है । ऐसे भक्तों को उनका हार्दिक पश्चात्ताप ही शुद्ध कर देता है । अतः भगवान् कहते हैं कि जब तक हृदय में पाप रहेगा, मनुष्य मेरे संमुख आ ही नहीं सकता ।

“पापवंत कर सहज सुभाऊ । मोर भजन तेहि भाव न काऊ ।

जो पै दुष्ट हृदय सो होई । मोरे संमुख आब कि सोई ॥

निर्मल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा’

शरण में आते ही हृदय की दुष्टता आप ही आप प्रायश्चित्त के साथ निकल जाती है । पापी को इतना नैतिक बल ही नहीं हो सकता कि वह राम के चरणों तक आ सके । यदि वह सच्चे हृदय से शरण आता है तो उसके पाप आप ही दूर हो जाते हैं ।

उपासक-गुण-समन्वय

तुलसी का महामानव

गोसाईंजी ने मनुष्यों के स्थान भी निर्धारित कर दिए हैं जो कि एक दूसरे से उत्तरोत्तर ऊँचे माने गए हैं। उन्होंने क्रमशः धर्मशील, विरक्त, ज्ञानी, जीवन्मुक्त, ब्रह्मलीन विज्ञानी तथा भक्तों को, उत्तरोत्तर श्रेष्ठ मानते हुए भक्त का स्थान सर्वोच्च माना है और (१) इसी को सब साधनों का सुंदर फल घोषित किया है। (२)

‘जप तप व्रत मख सम दम दाना । विरति विवेक ज्ञान विज्ञाना ।
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा । तेहि बिनु कोउ न पावइ पेमा ॥
(मानस०)

(१) धर्मसील विरक्त अरु ज्ञानी । जीवन्मुक्त ब्रह्मपर प्राणी ।
सबतैं दुर्लभ सो सुरराया । राम भगति-रत गत मद माया ॥

(मा० ३०)

(२) जप तप नियम जोग निज धर्मा । स्रुति संभव नाना सुभ कर्मा ॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन । जहँ लगी धरम कहत सुति सज्जन ।
आगम निगम पुरान अनेका । पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तब पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर यह फल सुंदर ॥

(मानस०)

उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि बिना सेवक-सेव्य-भाव के संसार तरना असंभव है। इसी लिये इस भक्ति को परिणति सेवा के रूप में होनी चाहिए। सगुण साकार की उपासना यही है कि प्रत्येक जीव में “अग जग रूख भूष सीतावर” के दर्शन किए जावें। यह भावना इतनी दृढ़ हो जावे कि सचराचर रूप भगवंत स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ—“मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।”

शास्त्र और संत

यही भक्ति शास्त्रसंमत और सतसंमत दोनों है। (१) आप्त वाक्य और प्रत्यक्ष अनुभव दोनों के बिना वह पूर्ण नहीं हो सकती। उनका राजमार्ग पुराण-निगमागम संमत भी है (२) ‘प्रेम ते प्रगट होहि मैं जाना’ और ‘उमा कहाँ मैं अनुभव अपना’ की प्रत्यक्ष कसौटी पर कसा हुआ भी है। शास्त्रसिद्धांत अनुभव की क्रियात्मक कसौटी पर खरा उतर चुका है जिसके बिना अज्ञानांधकार की निवृत्ति नहीं हो सकती :—

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावै कोई ।

निसि गृह मध्य दीप की बातिन तम निवृत्त नहिं होई ॥

(विनय०)

पहले तो उन्होंने यही कहा कि परहित के समान कोई दुसरा धर्म नहीं, (३) यही श्रुति का सार है, यही संतों का सहज

(१) होई पञ्चपात कछु राखौ ।

बेद पुरान संत मत आपौ ॥

(२) नानापुराण निगमागम संमतं यत्,

(३) परहित सरिस धरम नहिं भाई ।

स्वभाव है (१) संत जगत-हितकारी होते हैं। (२) किंतु बाद में यही परहित आत्महित हो जाता है, क्योंकि आत्म पर का भेद मिट जाता है। राम को सर्वगत मानने से सर्वहित स्वाभाविक हो उठता है और सबसे प्रेम करना रामप्रेम का विकसित रूप हो जाता है। (३)

राम जी ने अपना “सिद्धांत” बतलाते हुए जीवों में मनुष्य, इनमें द्विज, इनमें भी श्रुतिधारी, फिर निगम धर्म-अनुसारी, फिर विरक्त, फिर ज्ञानी; और फिर विज्ञानी तथा अंत में निज दास को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बतलाया है। इसमें यह परंपरा मनुष्य से प्रारंभ की गई है। इतना ही पार्वती के मत से (४) इसमें अंतर है। शेष दोनों एक समान हैं।

(१) पर उपकार सारस्रुति को सो सपनेहु तैं न बिचारेउ । (विनय०)

(२) पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाव खगाराया ।

(३) संत सरल वित जगत हित”””।

सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करेहु अति प्रेम ।

सगुन उपासक, परहित निरत नीति दृढ़ नेम ।

(४) सब मम प्रिय सब मम उपजाये ।

सबतैं अधिक मनुज मोहिं भावे ॥

तिन्ह मँह द्विज द्विजमँह स्रुतिधारो ।

तिन्ह मँह निगम धरम अनुसारी ॥

तिन्ह मँह प्रिय विरक्त पुनि ज्ञानी ।

ज्ञानिहु तैं प्रिय अति विज्ञानी ॥

तिन्ह तैं पुनि मोहिं प्रिय निज दासा ।

जेहि गति मोरि न दूसरि आसा ॥

(मानस०)

तुलसीदासजी ने एक ही व्यक्ति में सगुणोपासना, परहित निरति तथा नोतिप्रियता का समन्वय कर दिया है—तीनों को अभिन्न बता दिया है ।

संतों के चरित्र में गोसाईंजी ने अपना मनुष्यत्व का सर्वोच्च आदर्श व्यक्त किया है । संतत्व, भक्त और ज्ञानी दोनों में एक सूत्रता स्थापित करता है, क्योंकि वह दोनों में समान है । दोनों के लक्षणों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जावेगी । अभक्त और अज्ञानी दोनों का समावेश असंत में तथा ज्ञानी और भक्त का समावेश संत में हो जाता है । इसलिये पहले इन दोनों का भेद जान लेना आवश्यक है । यह नीचे लिखे तुलनात्मक दर्शन से स्पष्ट हो जावेगा—

संत

असंत

पर उपकार वचन मन काया । परहित हानि लाभ जिन केरे
संत सहहिं दुख पर हित लागी । पर दुख हेतु असंत अभागी
पर हित नित सह विपति विपला । खल बिनु स्वारथ पर अपकारी
संत उदय संतत हितकारी । दुष्ट उदय जग आरति हेतु
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा । जे परदोष लखहिं सहसाखी
तात स्वगे अपवर्ग सुख, तिनकर संग सदा दुखदाई
करिय तुला एक संग ।

सबके प्रिय सबके हितकारी । करहिं मोहबस द्रोह परावा
ते हरषहिं पर संपति देखी । पर संपदा विनासि नसाहीं
दुखित होहिं पर विपति विसेषी । जो काहू कै देखहि विपती
पर दुख दुख, सुख सुख देखे पर । सुखी होहिं मानहु जग नृपती
बिछुरत एक प्रान हर लेहीं । मित्रत एक दारुन दुख देहीं
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला । संत संग हरिकथा न भावा
संत मिलन सम सुख जग नाहीं । दुष्ट संग जनि देइ विधाता

कोमल चित दीनन पर दाया । निर्दय कपटी कुटिल मलायन
षट् विकार जित अनघ अकामा । कान क्रोध मद लोभ परायन
हेतु रहित परहित रतमीला । वैर अकारन सब काहू मों

गोसाईंजी के अनुसार “संत” मनुष्यत्व का सर्वोच्च विद्याम है । वह Superman है जिसमें सभी वांछनीय सद्गुणों और समाज-हितकारी भावनाओं का समन्वय है । सर्वप्रथम वह गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक है । (१) गो और ब्राह्मण पुष्टिकारी दुग्ध तथा तुष्टिकारी ज्ञान धाराओं के आगार होने के कारण भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं । अतः द्विजभक्ति को धर्मजनयित्री कहा गया है । (२) परिवार में वह गुरु, माता-पिता को ईश्वररूप जान कर उनका दृढ़ सेवक है । (३) सबसे दुर्लभ नर-शरीर की जन्मदात्री तथा स्नेह की मूर्ति माता प्रथम पूज्य है । रक्षक पिता का स्थान दूसरा है । ज्ञानदाता, आत्मिक पुनर्जन्म का साधन होने के कारण गुरु का स्थान तो गोविंद से भी पहले है । (४) गुरुकृपा ही से कल्याणकारी भक्ति या मोक्षदायक ज्ञान प्राप्त होता है ।

उसके लिये पहले श्रद्धा और विश्वास के पात्र की आवश्यकता होती है । (५) भक्ति प्राप्ति के साधन स्वरूप पहले वह नीति-

(१) प्रथमहिं विप्रचरन अति प्रीती ।

(२) द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री ॥

(३) गुरु पितु मातु बंधु पतिदेवा । सब मोकहँ जानइ दृढ़सेवा ।

(४) गुरु गोविंद विप्र पद प्रेमा ।

मोते अधिक गुरुहिं जिय जानी ॥

(५) कवनेउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा ।

स्रद्धा बिना धरम नहिं होई ।

नियम का पालन करता है (१) इस नीति-पालन से उसे हृदय-स्थित (२) विकारों को जीतने की शक्ति आती है। वर्णाश्रम के अनुसार विहित कर्मों का पालन करते करते उसके मन में विषयों से विराग उत्पन्न हो जाता है। (३) वह केवल मन या वचन ही से भजन नहीं करता किंतु सेवारूप क्रियात्मक भजन से तीनों का समन्वय करता है। (४) इसी भजन की व्याख्या आगे बतलाई गई है—सदा सर्वगत ईश्वर को जानकर सर्व-हित और अति प्रेम करना ही यह भजन है। (५)

यह भजन या सेवा बिना इंद्रिय-दमन के संभव नहीं इसी लिये संत के लिये षट् विकार जीतने का विधान किया गया है। इससे वह अनघ और अकाम हो जाता है। (६) तब उसमें तितिक्षा, हर्ष, विषाद के प्रति समान भाव, अलोभ और अभय प्राप्त होता है। (७) मनुष्य को सुख प्राप्ति की स्वाभाविक इच्छा रहती है पर बिना अकाम हुए सुखप्राप्त नहीं हो सकता। (८) इन विकारों को गोसाईंजी ने मानसरोग माना है और काम को बात की,

(१) सम सोतज नहिं त्यागहि नीती ।

(२) निज निज धरम निरत सुति रीती ।

(३) यहि कर फज पुनि बिषय-विरागा ।

(४) मन क्रम बचन भजन हृद नेमा ।

(५) अब गृह जाहु सच्चा सम भजन करेहु हृद नेम ।

सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम ॥

(६) षट् विकार जित अनघ अकामा ।

(७) लोभामरष हरष भय त्यागी ।

(८) काम अछत लपनेहु सुख नाही ।

लोभ को कफ की, क्रोध को पित्त की, उपमा दी है। (१) मोह को तो सब व्याधियों का मूल ही माना है। (२) अहंकार को डँवरुआ तथा मद को नहरुआ कहा है। संतगुण ममता की दाद, ईर्ष्या की खुजलाहट, (३) हर्ष-विषाद के गरह, तृष्णा की उद्वृद्धि, परसुख के प्रति जलन को क्षय रोग, कुटिलता के कुष्ट, मत्सर और अविवेक के ज्वर से मुक्त होकर (४) संतोष के द्वारा परम विश्राम प्राप्त करते हैं। (५)

वे शीतलता, सरलता और मैत्री तथा शांति, विरक्ति विनय और मुदिता (६) के नंदनवन में विचरण करते हैं। ममता और मद से मुक्त होकर वे निंदा और स्तुति से परे हो जाते हैं। (७) परुषता के स्थान पर कोमलता, निर्दयता के बदले भूतदया उनके हृदय में निवास करने लगती है। (८) उनका कोई प्राणी शत्रु नहीं रह जाता, क्योंकि वे मैत्री की दृष्टि से जगत् को देखते हैं। (९) अस्वाद व्रत पालने के कारण वे मितभोजी हो

- (१) काम वात कफ लोभ अपारा । क्रोध पित्त नित छाती जारा ॥
- (२) मोह सकल व्याधिन कर मूला ।
- (३) अहंकार अति दुखद डँवरुआ । दंभ कपट मद मान नहरुआ ॥
- (४) ममता दादु बंडु हरषाई । हरष विषाद गरह बहुताई ॥
- (५) पर सुख देखि जरनि सो छई । कुष्ट दुःखता मन कुटछई ॥
जग बिधि उवर मत्सर अविवेका ।
- (६) कोउ विश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिन ।
- (७) शीतलता सरलता मयत्री ।
शांति विरति बिनती मुदितायन ।
- (८) निंदा अस्तुति एक सम गत ममता मद पुंज ।
- (९) कोमल चित दीनन पर दाया ।
- (१०) सम अभूत रिपु विमद बिरागी ।

जाने हैं । (१) विषयों की लंपटता के बदले वे शील और गुणों के आकर बन जाते हैं । (२)

गुणाकर होने पर भी वे उसे अपना नहीं किंतु प्रभु का गुण और अपना अवगुण समझते हैं । (३) दूसरों के गुणों को प्रदण करते हैं, अवगुणों को नहीं । (४) अपने गुणों को सुनकर वे सकुचाते हैं । (५) सबको मान देने हैं और स्वयं निरभिमानी रहने के कारण (६) सबके प्रिय, सबके हितकारी बन जाते हैं । (७)

सरल स्वभाव के कारण उनकी सबसे प्रीति हो जाती है । (८) आत्म और पर का भेद इतना मिट जाता है कि वे दूसरे की विपत्ति देख दुखी हो जाते हैं; (९) और उनके संकट-निवारण करने के लिये स्वयं विपत्ति मोल लेते हैं; (१०) यहाँ तक कि प्राण भी त्याग देते हैं । (११) यह सब उनका सहज स्वभाव बन जाता है—वे परोपकार किए बिना रह ही नहीं सकते । (१२)

- (१) अमित बोध अनीह मितभोजी ।
- (२) विषय अलंगट शील गुणाकर ।
- (३) गुन तुम्हार समझहिं निज दोष ।
- (४) अवगुन तजि सबके गुन गहहीं ।
- (५) निज गुन स्तवन सुनत सकुचाहीं ।
- (६) सबहिं मानप्रद आपु अमानो ।
- (७) सबके प्रिय सबके हितकारी ।
- (८) सरल सुभाव सबहिं मन प्रीती ।
- (९) जे हरषहिं पर संपत्ति देखी । दुखी होहिं पर विपत्ति विसेधी ॥
- (१०) विप्र घेनु हित संकट सहहीं ।
- (११) परहित लागि सजहिं जे देही ।
- (१२) पर उपकार बचन मन काया । संत सहज सुभाव खगाराया ।

अपना सुख-दुःख और प्रशंसा या निंदा एक समान मानते हुए भी (१) वे पर पीड़ा को सबसे बड़ा पाप और परनिंदा को सबसे अधिक निन्दित वस्तु समझते हैं। (२) स्वयं दयालु अहिंसक रहते हुए भी (३) वे दूसरों के दोषों के प्रति क्षमाशील रहते हैं। (४) स्वयं अकिंचन रहते हुए भी वे अपने सिद्धांत में दृढ़ रहते हैं। शुद्ध होने के कारण सदा सुखधाम रहते हैं। (५) अपने विषय में उदासीन रहते हुए भी (६) वे असावधान नहीं रहते। (७)

वे अहित का बदला हित और हित का बदला अतिहित से देते हैं। (८) संत आलसी नहीं, परम पुरुषार्थी हैं। (९) उनके सब सुकृतों का मूल सत्य (१०) और फल परोपकार तथा सेवा है। (११)

(१) सुख दुख गरिष प्रससा गारी ।

(२) पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।

(३) परम धरम जग विदित अहींसा ।

धरम कि दया सरिस हरिजाना ।

(४) क्षमाशील जे पर उपकारी ।

(५) अचल अकिंचन सुचि सुख धामा ।

(६) उदासीन अरि मात हित ।

(७) सावधान मानद मद होना ।

(८) दैव दैव आलसी पुकारा

(९) सत्यमूल सब सुकृत सोहाए ।

(१०) स्तुति कह परम धरम उपकारा ।

(११) सौरज धीरज जेहि रथ चाका । सत्य लील दद धुजा पताका ॥

किंतु संत केवल नम्र, शीतल और शांत नहीं हैं, वे शूर-वीर भी हैं। शौर्य और धैर्य उनके विजय-रथ के चक्र हैं, (१) सत्य और शील उसके ध्वजा और पताका हैं, (२) बल, विवेक दम और परहित उसके चार घाड़े हैं (३) (बल को दम और विवेक को परहित के साथ जोड़ दिया है) ईश्वरभक्ति इन सब नीति-नियमों को सारथी बनकर संचालित कर रही है। (४) विरक्ति की ढाल और संतोष की तलवार से, दान के परशु और बुद्ध की शक्ति से, विज्ञान के धनुष (५) और अमल अचल मन के त्र्यंश से शम और दम के बाण निकल निकल कर शत्रु पर प्रहार कर रहे हैं।

विप्र-पूजा के अभेद्य कवच से संत सुरक्षित हैं इस प्रकार के धर्मरथ पर चढ़कर संत संसार-रिपु पर विजय प्राप्त करता है। अथवा उसके जीतने के लिये कोई शत्रु ही नहीं रह जाता, सब मित्र बन जाते हैं।

गोसाईं जी ने अपने लिये संतत्व के अनुसार जीवन बिताने की वरदान माँगा है—

कवहुँक हौं एहि रहनि रहौंगो ।

(विनय०)

(१) बल विवेक दम परहित घांरे ।

छमा दया समता रजु जोरे ।

(२) ईस भजन सारथी सुजाना । विरति धरम संतोष कृपाना ॥

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा । वर विज्ञान कठिन कोदंडा ॥

(३) अमल अचल मन त्रैन समाना ।

सम जप नियम िछीमुख नाना ॥

(४) कवच अभेद्य विप्र-पद-पूजा । यहि सम विजय उपय न दूजा ॥

(५) सखा धारमय अंतरय जाके । जीतन कहँ न कउहुँ रिउ ताके ॥

(मा०)

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	३	निश्चयमः	निश्चयः	२६	९	कृष्का	कृष्ण
....	११	स्वर्थ	स्वार्थ	...	१६	उपदेश	उपदेश दे
६	१८	आज्ञान	अज्ञान		१८	श्रेष्ठता	श्रेष्ठता
	१९	आगम	आगम	२७	५	नये	नया
१०	४	पूर्त	पूर्त	...	१७	आप रहते	आप कहते
१०	६	उक	तक	२८	३	माग	मार्ग
११	३	मान	माना		५	विविधि	विविध
१४	१५	करना	करनी	१०	५	विना हो	विना भ्रम किये
....	२०	चखाने	चखाने			भ्रम किये	
१५	२३	सुधारना	सुधारना	३०	१०	पूण	पूण
१६	२	सिर भुका	सिर न भुका	३०	२१	मत्र	मात्र
१६	६	करुणाये	करुणाके	३२	५	शक्ति	शोख
....	२०	राग न रोव	राग न रोप	३२	१६	धम की	धर्म की
१७	११	पोच	पोच	३३	१६	सकते	सकता
१८	१	अत	अत	३४	३	दीनों	दीनों
२०	८	जिह विधि होन	जेहि विधि होइ	३४	१०	समाई	सगाई
२२	५	धर्म	धर्म	३५	१	धर्म व्यक्ति	धर्म व्यक्ति
२३	१४	गोसाईं	X	३५	१२	क	क
२५	४	निकाकार	निराकार	३६	२०	किन्तु	...
....	५	विष्णु की	विष्णु के	३७	२०	उगरोषों	उगरोषों
२६	१	मिलकुल	बिलकुल	३८	१४	बढ़ाते	बढ़ाने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८	२४	करो	फरो
	२	अंवे	अंधेहि
	२	सूक्त	सूक्त
३९	१४	वे	...
४१	२५	बड़ी	बड़ि
४२	८	है	...
४२	१७	तें	के
४२	२३	हो जाता	
४३	७	संगठन	संघटन
४३	१५	जानकर	जाना
४३	१७	विवाहि हो	निवहिहो
४४	८	किन्तु	
४४	१९	शान्	शानू
४८	८	कोऽश्म	कोऽश्म्
४८	१५	इसी	इसी को
४९	४	अपने	अपना
४९	४	लिखे	लिखा
४९	५	पृथक्त्व	पृथक्त्व तथा
५०	८	को	का
५०	९	या	का
५०	२०	में	...
५१	१३	के	से
५१	१३	के	से
५१	१६	है	...
५१	१९	करा	क्रिया

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५२	२	चतुर्वर्ग	चतुर्वर्ग
५३	९	साथकता	सार्थकता
५४	११	चिन्तानू	चितानू
५४	१२	निर्वेतुमा	निर्वेद
५४	१५	देवो	देवों
५४	१९	भागों	मार्गों
५५	१०	ईषणाओं	एषणाओं
५५	१६	निर्दिष्ट	निर्दिष्ट
५५	२०	फिम	न
५६	३	बतलाता	बतलाना
५७	१	(अर्थार्थी)	अर्थार्थी
५७	१	अर्थ	(अर्थ)
५७	१७	सामंजस्य	सामंजस्य
५७	२१	की रत्ति	कीरति
५७	२३	सुकृतिनोड	सुकृतिनोऽर्जुन
५७	२४	भारत वर्ष	भारतर्षम
५८	६	निसंग	विज्ञान
५८	१२	सम्पति	सम्पति
५८	१२	वितहि	बिनहि
५८	२२	(१६)	
५८	३६	(१६) धर्म	
५९	१	कामना	कामनाओं
५९	१	को	में
५९	१०	सुम	सम
५९	१५	बड़ी	बड़ा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६	१६	पर	को	६६	१	पुरुषः	पूरुषः
६०	१७	सर्वांग	सर्वांगी	७०	१०	तः	
६०	१६	निश्चयेस्	निश्चयेस्	७०	१०	तद्दूरेन्तिके	तद्दूरेतदन्तिके
६२	२	पथा”	पथी	७१	६	सगुण	सगुण ।
६४	७	भी		७१	६	वह होती है	
६४	८	समय	समय ।	७१	६	१५	
६४	६	गर्भगत	गर्भगत	७२	१३	(५)	...
६४	१६	ओलडॅनबर्ग,	ओलडॅनबर्ग	७२	१४	करके है	कर कहे
६४	२०	जाये	आये	७२	१८	(६)	
६४	२२	अरोपा	असेपा	७३	८	को	के
६४	२३	Regveda	Rigveda	७३	१३	“अनुसार”	अनुसार
६४	२४	Relegion	Religion	७३	१३	सर्वेन्द्रिय	“सर्वेन्द्रिय
६५	१०	की	का ।	७३	१४	विवर्जितम्	विवर्जितम्”
६५	१६	आन्मा	आम्ना	७३	२१	वत ।	भू ।
६५	१६	क्रियर्थ	क्रियर्थ	७३	२४	भुंजेन्	भुंजेरन्
६५	१६	अनद्	अतद्	७३	२४	निर्गुणाः	निर्गुणः
६५	१७	मीमांसा	मीमांसा	७३	२५	सर्वा	सर्वा
६५	१८	यत्न	मत्न	७४	२	भी	भां है
६६	८	मात्र है	मात्र माना है	७४	७	तो	...
६६	९	उन्हें	उन्हें	७४		अपना	अपना ।
६६	२३	अजमत	अजमन	७४	१२	होई	होइ
६७	८नं२२	विशष	विशेष	७४	१३	पावती	पार्वती
६७	८	समवर्क	समन्वय	७४	२५	हरिपद	हरपद
६७	८	दिव्ये	देविये	७५	१९	आता	आता,
६६	१	सतावान्	एतावान्	७५	१६	उतकी	उसकी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७५	२२	कि	...	८७	३	प्रभु	हरि
७६	७	किरण	कारण	८७	१७	नहीं ।	नहीं थी ।
७६	१३	जिमि	इव	९०	२१	एकते	एते
७६	२०	सूर्य छत्र	सूर्य ने छिपा	९२	१६	चक्कर	चक्र
७६	२२	है	है ।	९२	२३	मानी	माना
७८	२	यहां	यह	९३	१७	वाला	वाजी
७८	२	कहा	कहीं	९४	११	सोचे	सोचें
७८	६	का	की	९४	१४	साचने	सोचने
७८	१२	सगुण	सगुण	९४	१५	निभर	निर्भर
७८	१६	नराकार	निराकार	९४	२५	मा	भो
७८	१७	धर	पर ही	९५	४	सब	सर्व
७८	१७	ही यान	ध्यान	९५	६	ब्रह्मवय	ब्रह्मव्य
७९	१५	स्थानप	स्थापन	९५	९	मागयो	मार्गियों
८०	१३	इस प्रकार		९५	१३	हो	दो
८०	१३	इस	...	९६	१५	के	
८०	२१	कारण	इस कारण	९६	१६	बराबरी	बराबरी का
८०	२२	सगुणपा	सगुणोपा	९६	२१	है	है ।
८३	८	सन्निधन	सन्निधन	९७	२३	बह	वह
८३	१०	निगुण	निर्गुण	९८	९	ब्रह्मपद	ब्रह्मपद
८३	११	गासाइ	गोसाईं	९८	१६	हैं ।	हैं । वे
८३	१५	साक्षा	साक्षी	९८	१७	सहयोगी	सहयोगिनी
८५	९	कुछ न कुछ	कोई न कोई	९८	२६ नं२	ब्रह्मसूत्र	...
८५	२५	सरूप	सरूपा	१०१	१३	आराधक	आराधक
८६	३	और		१०१	१३	आराध्य	आराध्य
८६	१२	अथवा ईश		१०३	१३	जाव	जीव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०३	१८	है—पर	है पर
१०८	१५	उदाहरणः	
११०	१४	अदृश्य	अदृश्य
११०	२०	ग्रह्य	ग्राह्य
११०	२१	श्रोत्र	रश्रोत्र
११०	२२	भूत	भूत
११४	१	()	(६)
११४	६	मानस	(मानस)
११५	१०	रज्जो	रज्जौ
११५	१३	आये	आगे
११५	१३	समजायत	समजाय
११७	१८	कुंड	ग्रंड
११८	१२	सस्त्र	सास्त्र
११६	६	है	है ।
१२०	३	मम	कर्म
१२२	४	भाना	माना
१२२	५	समुपासने	समुपासते
१२३	९	प्रवृत्ति	प्रवृत्ति
१२४	७	भवकासा	अवकासा
१२४	९	सवि	रवि
१२४	९	प्रभास	प्रकास
१२५	२	वैदिक	वैदिक
१२५	३	पंच	पंचदेवों
१२५	११	(स्तुति)	(स्तुति)
१२५	१५	भानु	मातृ

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२५	१७	विनवौ	विनवों
१२६	८	(लिगाष्टक)	(लिंगाष्टक)
१२७	२	द्वपी	द्वेपी
१२७	१४	आवत्स	श्रीवत्स
		लाछन	लाँछन
१२७	१८	'सव	'सर्व
१२८	३	शव	शिव
१२८	१०	(विष्णु मूर्ति)	(विष्णु मूर्ति)
१२८	११	शिपविष्ट	शिपिविष्ट
१२८	१८	मूर्तिया	मूर्तियाँ
१२८	१६	होना	होती
१२८	२०	प्रचालत	प्रचलित
१२८	२३	का	को
१२६	१८	त्रिमूर्ति	त्रिमूर्ति
१२६	२४	स्मृत	स्मृतों
१३०	११	भमास्य	ममास्य
१३०	१४	पश्येता	पश्येतां
१३१	११	में दिए	में जोड़ दिए
१३७	१०	उद्धारणों	उद्धारणों
१४४	२३	अपित	अर्पित
१४५	३	ताहि	तरहि
१४५	१३	पक्षग्राही	पक्षाग्रही
१४६	६	समुचित	अनुचित
१४७	३	जाती ।	जाती है ।
१४७	६	भवित	परमप्रेम=भक्ति

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४६	५	लील	लीला	१८२	७	पिय	पय
१४६	१३	दारिद्र्य	दारिद्र्य	१८५	१८	काच	कांच
१४६	१८	सो	सो असन	१८६	१६	अन्योन्य	अन्योन्य—
१४६	१८	जठर हितलागी	जठरागी	१८७	१८	वर्णन	वर्णन
१५१	३	बनेगा	मथेगा	१८८	१३	अठ	भेष्ठ
१५१	८	साधन	साधन है	१८६	१८	कोस्मण	के आचरण
१५२	१	मिलाने	पन्हाने	१९०	१८	समझना ।	समझना,
१५२	११	(निगुण)	(निर्गुण)	१९०	७	तुमको	तुमकोह
१५५	१४	दोनों	×	१९०	११	जान हरिए	जानिबरिए
१५७	१२	ज्ञानमर्ग	ज्ञानमार्ग	१९०	६	बढ़ तौ	बढ़ तौ
१५८	५	पृथक्त्व	पृथक्त्व	१९२	४	है ।	है । १
१५८	५	अद्वैतवाद	द्वैतवाद	१९२	६	। (१)	।
१५८	५	सहसंग और	×	१९४	४	कितु	;
१६१	१७	निज	नर	१९६	१	अभि	अति
१६२	१३	तर्पण	तर्पण	१९६	६	तप	तप,
१६४	४	कि	कि ईश्वर	१९६	१०	निरकेवल	निः केवल
१६४	१२	शान्तिभाव	कातभाव	१९६	११	की	की,
१६४	१५	दिया	दिया—	१९७	२०	सुकर	सुफल
१६६	४	(मा० भ०)	(मा० अ०)	१९८	१०	सका	सकता
१७०	३	अथ	अर्थ	१९८	११	सके	सकते
१७०	१	मारइ	मरइ	१९६	१२	वही	वही है
१७५	२	भूमिकाएँ	भूमिकाएँ	१९६	१८	मदिर	मंदिर
१७७	६	दुग	दुर्ग	२००	११	है ।	है :—
१७७	२२	वरन	वरन्	२००	१६	पग	मग
१८१	७	गृही	गृही जो	२०१	२	नहीं	नहीं,

पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०२ ४	थर	छर	२१६ १७	ज्ञानमाग	ज्ञानमार्ग
२०३ १४	मनुष्य	निराकार	२२० १३	हे ।	हे !
२०३ १५	'विश्वासप्रभु' 'प्रभु विश्वास'		२२० १४	में	में मनुष्य
२०३ १८	पहली	भक्त पहलो	२२० १५	सकता	सकृता;
२०३ २३	रूपरासी	स्वामि	२२१ १	के इस	से
२०४ ७	सर्वहित	सर्वहित,	२२१ १८	भूलता	भूलता
२०४ १७	"रूपराशि	"स्वामि	२२२ ४	मुह्त	मुकृत
२०४ २१	"	"	२२२ ११	उस	...
२०४ २२	"	"	२२१ १२	पहाड	पहाड
२०५ १५	अजघाया	अजघामा	२२१ १६	की	...
२०५ १७	Grddess	Godess	२२३ ४	भक्ति-वशलता	भक्ति-वशता
२०७ १	दशन	दर्शन	२२४ ४	है ।	है !
२०८ २	मुमिरत	मुमरिता	२२४ ७	है	है,
२१२ १३	या	(मा०)	२२४ १५	है"	है
२१२ १६	निदरति	निदरहि	२२४ २४	पुरुषाय	पुरुषार्थ
२१४ १०	इस इस	इस	२३४ ६	करता	करता
२१५ ७	तेहि	जेहि	२३५ ५	को	के
२१८ ३	है,	है !	२३७ २	भी १	भी (१)
२१८ ४	दुरुपयोग	दुरुपयोग			



